पत्रिका नं० २७

जीवन में स्याद्वाद

लेखक

श्री चन्द्रशंकर प्राणशंकर शुक्ल

अक्तूबर १९५०

बारह आना

निवेदन

मण्डल की यह पत्रिका कुछ देर से प्रकाशित हो रही है इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। किन्तु मंडल के ध्येय के अनुकूल साहित्य का मिलना कठिन होता है इस बात को यदि मण्डल के सभ्य ध्यान में लेंगे तब वे इस देर को सहज मानेंगे ऐसा मेरा खयाल है। इतनी देर के बाद भी जो यह पत्रिका दी जा रही है उसे पढ़कर वे प्रसन्न होंगे इतना मुझे विश्वास है। इसके लेखक श्री चन्द्रशङ्कर शुक्ल का नाम गांधीजी के 'हरिजन' पत्रों के पाठकों के लिए तथा गांधीविचारधारा में रस रखने वालों के लिए इतना सुपरिचित है कि उनका विशेष परिचय देना मैं अनावश्यक समझता हूँ। हिन्दी पाठकों को इतना विशेष बताना आवश्यक है कि श्री राधाकृष्णन् की कई पुस्तकों के गुजराती में अनुवाद के द्वारा उन्हें दार्शनिक साहित्य से भी रुचि है इस बात की प्रतीति उन्होंने करा दी है। उनका स्याद्वाद के विषय में यह निबन्ध उन्होंने मान्यवर पण्डित श्री सुखलाल जी की प्रेरणा से गुजराती में लिखा है और मण्डल को इसे हिन्दी में प्रकाशित करने की आज्ञा दी है एतदर्थ मैं उनका आभार मानता हूँ।

स्याद्वाद के विषय में जैनेतर विद्वान् सामान्यतः गहराई में बिना गये यही कह देते हैं कि यह तो संशयवाद है, इसमें तो विरोध है इत्यादि। वे इस निबन्ध को पढ़कर अपना मत अवश्य बदलेंगे ऐसा मुझे विश्वास है। मैं तो यह कहने को बाध्य हूँ कि आधुनिक किसी जैन विद्वान् ने भी स्याद्वाद के विषय में आधुनिक दृष्टि से इतना विशद विवेचन नहीं किया है। जैन विद्वान् भी स्याद्वाद का जीवन में कैसा महत्व का स्थान है यह बात इस निबन्ध से जानेंगे।

इस निबन्ध का अनुवाद श्री मोहनलाल मेहता B. A. ने मेरे साथ बैठकर शीघ्र कर दिया एतदर्थ उनका भी मैं यहाँ आभार मानता हूँ।

निवेदक—

दलसुख मालवणिया
मंत्री

जीवन में स्याद्वाद ।

'स्याद्वाद' अथवा 'अनेकान्तवाद' जैनदर्शन का शब्द है। एक हाथी को देखनेवाले सात अन्धों का दृष्टान्त स्याद्वाद के समर्थन के रूप में प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का सार यह है कि किसी एक पदार्थका वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। वह वर्णन अपनी-अपनी दृष्टि से सच्चा होता है, किन्तु समग्र सत्य की दृष्टि से अधूरा ही रहता है। जिस समय वर्णन की सभी दृष्टियाँ एकत्र की जाती हैं उसी समय पदार्थका यथार्थ वर्णन हो सकता है। तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न अनेक दृष्टिकोणों से वस्तु का दर्शन करना ही सत्यदर्शन का वास्तविक मार्ग है और वही 'अनेकान्त' है। एक ही दृष्टि से किया हुआ वर्णन 'एकान्त' अर्थात् अधूरा होता है, इसलिए वह मिथ्या है। इसी बात को दार्शनिक परिभाषा में हेमचन्द्र ने यों कहा है:—'अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्' अर्थात् तत्त्व अनन्तधर्मसंयुक्त है। उन्होंने और स्पष्ट करते हुए कहा कि दीपक से लगाकर व्योम पर्यन्त—प्रत्येक वस्तु का यही स्वभाव है। कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता:—"आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु"—(अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका—५)

उपनिषद् में एक शिष्य ने गुरु से पूछा:—"हे भगवन्! ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसके ज्ञान से वस्तुमात्र का ज्ञान हो जाय?"—(मुण्डक—१—१—३) ऐसा ही एक प्रश्न पूछनेवाले दूसरे विद्यार्थी श्वेतकेतु को उसके पिता आरुणि ने कहा कि मिट्टी के एक लौंदे को जान लेने से मिट्टी की बनी हुई सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है:—"एकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन मृण्मयं विज्ञातं स्यात्—"(छांदोग्य—६—१—४)। जैनदर्शन ने यह बात तो बताई सो बताई किन्तु साथ ही में उससे फलित होनेवाले एक उपसिद्धान्त का भी निर्माण किया और स्याद्वाद का स्वरूपवर्णन करते हुए कहा कि जो एक पदार्थ को सर्वथा जानता है वह सभी पदार्थों को सर्वथा जानता है। जो सर्व पदार्थों को सर्वथा जानता है वह एक पदार्थ को भी सर्वथा जानता है:—

"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।

सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥"

अर्थात् सभी पदार्थों को उनके सभी रूपान्तरों सहित जानने वाला सर्वज्ञ ही एक पदार्थ को पूर्ण रूप से जान सकता है। सामान्य व्यक्ति एक भी पदार्थ को पूरा नहीं जान सकता। ऐसी अवस्था में अमुक व्यक्ति ने अमुक बात मिथ्या कही, ऐसा कहने का हमें कोई अधिकार नहीं। यह अधिकार तो सर्वज्ञ को ही है। व्यक्ति का पदार्थ विषयक ज्ञान अधूरा होता है; अतः यदि कोई अपने अधूरे ज्ञान को पूर्ण ज्ञान के रूप में दूसरों के सामने रखने का साहस करता हो और वही सच्चा और दूसरे सब झूठे, ऐसा कहता हो तो हम उसे इतना अवश्य कह सकते हैं कि 'तुम अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर रहे हो'। इससे अधिक हम उसे कुछ नहीं कह सकते। जैन-दर्शन प्रतिपादित 'स्याद्वाद' सिद्धान्त से ऐसा फलित होता है।

स्याद्वाद का सुव्यवस्थित निरूपण जैन-दर्शन ने किया, यह ठीक है, किन्तु यह नियम तो जगत् जितना ही प्राचीन तथा व्यापक है। मल्लिषेण के कथनानुसार स्याद्वाद संसारविजयी और निष्कण्टक राजा है—"एवं विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्रे—"। इस सिद्धान्त का उल्लेख ऋग्वेद तक में मिलता है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद १. १६४. ४६.) एक ही सत् तत्त्व का विप्र विविध प्रकार से वर्णन करते हैं—यह स्याद्वाद का बीजवाक्य है। जैन-दर्शन की दृष्टि के अनुसार एक ही पदार्थ के विपरीत वर्णन अपनी-अपनी दृष्टि से सच्चे हैं। पारिभाषिक शब्दों में कहा जाय तो प्रत्येक पदार्थ में 'विरुद्धधर्माश्रयत्व' है। इस प्रकार का परस्पर विरोधी वर्णन उपनिषद् में भी एक जगह आता है। आत्माके विषय में उपनिषद्कार कहते हैं—'वह चलता है, वह स्थिर है, वह दूर है, वह समीप है, वह सर्वान्तर्गत है, वह सभी से बाहर है।'—"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।" (ईश. ५)

सोक्रेटीस को अपने ज्ञान की अपूर्णता का—उसकी अल्पता का पूरा भान था। इस मर्यादा के भान को ही उसने ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता कहा है। वह कहता था कि मैं ज्ञानी हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञ हूँ। दूसरे ज्ञानी नहीं हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे अज्ञ हैं।

प्लेटो ने इस स्याद्वाद अथवा सापेक्षवाद का निरूपण विस्तार से किया। उसने कहा कि हमलोग महासागर के किनारे खेलनेवाले उन बच्चों के समान

हैं जो अपनी सीपियों से सागर के पूरे पानी को नापना चाहते हैं। हम उन सीपियों से महोदधिका पानी खाली नहीं कर सकते फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियों में जो पानी इकट्ठा करना चाहते हैं वह उस अर्णव के पानी का ही एक अंश है, इसमें कोई संशय नहीं। उसने और भी कहा है कि भौतिक पदार्थ संपूर्ण सत् और असत् के बीच के अर्धसत् जगत् में रहते हैं।[१] जैन की तरह उसने भी जगत को सदसत् कहते हुए यह समझाया कि न्यायी, वृक्ष, पक्षी अथवा मनुष्य आदि 'हैं' और 'नहीं हैं', अर्थात् एक दृष्टि से 'हैं' और अन्य दृष्टि से 'नहीं हैं', अथवा एक समय में 'हैं' और दूसरे समय में 'नहीं हैं' अथवा न्यून या अधिक 'हैं' अथवा परिवर्तन या विकास की क्रिया से गुजर रहे हैं। वे सत् और असत् दोनों के मिश्रणरूप से हैं अथवा सत् और असत् के बीच में हैं।[२] उसकी व्याख्या के अनुसार नित्य वस्तु का आकलन अथवा पूर्ण आकलन सायन्स (विद्या) है और असत् अथवा अविद्यमान वस्तु का आकलन अथवा संपूर्ण अज्ञान 'नेस्यन्स' (अविद्या) है, किन्तु इन्द्रियगोचर जगत् सत् और असत् के बीच का है। इसीलिये उसका आकलन भी 'सायन्स' तथा 'नेस्यन्स' के बीच का है।[३] इसके लिये उसने 'ओपिनियन' शब्द का प्रयोग किया है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'नॉलेज' का अर्थ पूर्ण ज्ञान है और 'ओपिनियन' का अर्थ अंश ज्ञान है। उसने 'ओपिनियन' की व्याख्या 'संभावना विषयक विश्वास' (Trust in probabilities) भी की है—अर्थात् जिस व्यक्ति में अपने अंश-ज्ञान या अल्पज्ञान का भान जगा हुआ होता है वह नम्रता से पद-पद पर कहता है कि ऐसा होना भी संभव है—मुझे ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए स्याद्वादी पद-पद पर अपने कथन को मर्यादित करता है। स्याद्वादी जिद्दी की तरह यह नहीं कहता कि मैं ही सच्चा हूँ और बाकी झूठे हैं। लूई फिशर ने गाँधीजी का एक वाक्य लिखा है; "मैं स्वभाव से ही समझौतापसन्द व्यक्ति हूँ क्योंकि मैं ही सच्चा हूँ ऐसा मुझे कभी विश्वास नहीं होता।"[४]

---

१. सी. ई. एम्. जोड—फिलोसोफी फोर आवर टाइम्स पृ० ४९।

२. एरिक-लेअन—प्लेटो पृ० ६०।

३. वही पृ० ६४।

४. "I am essentially a man of compromise because I am never sure I am right." Louis Fischer–The Great challenge.

बौद्ध भी इसी तरह स्याद्वाद की दिशा में हैं क्योंकि वे भी मध्यममार्गी हैं। मध्यममार्ग स्याद्वाद का ही एक रूप है। जैन-स्याद्वादी जिस प्रकार से जगत् को सदसत् कहता है उसी प्रकार से माध्यमिक बौद्ध भी कहता है कि अस्ति और नास्ति ये दोनों अन्त हैं, शुद्धि और अशुद्धि—ये दोनों भी अन्त हैं। इसीलिये ज्ञानी मनुष्य इन दोनों अन्तों का त्याग करके मध्य में स्थित होता है—

> अस्तीति नास्तीति उभेपि अन्ता
> शुद्धी अशुद्धीति इमे पि अन्ता।
> तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा
> मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः॥

—समाधिराजसूत्र।

माध्यमिकों ने परमार्थ, लोकसंवृति, और अलोकसंवृति—इस प्रकार से सत्य की तीन अवस्थाएँ स्वीकृत की हैं। यह भी स्याद्वाद है।

शंकर तो तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में स्याद्वाद का अधिक से अधिक प्रयोग करनेवाला एक चिन्तक है। उसने भी माध्यमिकों की भाँति सत्य की तीन अवस्थाएँ मानी और उन्हें नाम दिया—परमार्थ, व्यवहार और प्रतिभास।

वास्तविक रीति से देखा जाय तो शंकर ने किसी भी मत का नितान्त खण्डन नहीं किया। उसने यह बताया कि प्रत्येक मत किस दृष्टि से और किस अवस्था में सच्चा है, और उससे अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करके बोलने का अनुरोध किया। दूसरे ढंग से कहा जाय तो शंकर ने जो-जो विषय अपने हाथ में लिये, उन्हें तालाब के ऊँचे-नीचे सोपानवाले घाटों का रूप दिया। इसीलिये शंकर को सोपानवादी कह सकते हैं। हिरियन्ना ने अच्छी तरह से स्पष्ट किया है कि शंकर के मतानुसार प्रत्येक उपलब्धि अपनी-अपनी सीमा तक तो सत्य है, किन्तु अपनी सीमा का अतिक्रमण करने पर वही उपलब्धि मिथ्या हो जाती है। स्वप्नदशा की दृष्टि से स्वप्न सत्य होता है, किन्तु जागृति की दृष्टि से वही स्वप्न मिथ्या हो जाता है। उसी प्रकार जाग्रदवस्था का ज्ञान व्यवहार की दृष्टि से तो सत्य है किन्तु परमार्थ की दृष्टि से मिथ्या है[१]।

इस 'मिथ्या' शब्द का जो विशिष्ट अर्थ शांकर वेदान्त में है वह स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। मिथ्या अर्थात् अविद्यमान नहीं, संपूर्ण सत्

१ हिरियन्ना—Outlines of Indian Philosophy P. 361.

अथवा नित्य नहीं अर्थात् सत् और असत् के बीच का मिथ्या है। शांकर वेदान्त में भ्रान्ति (Error) मात्र अंशतः भ्रान्ति है क्योंकि प्रत्येक भ्रान्ति-में सत्यका यत्किंचित् अंश तो रहता ही है।[१] दूसरे शब्दों में शांकर वेदान्त के अनुसार व्यवहार दशा में संपूर्ण ज्ञान अथवा संपूर्ण अज्ञान–इन दोनों में से एक भी संभव नहीं है अर्थात् ऐसा जो–कुछ ज्ञान है वह अंशज्ञान है। दूसरी ओर उसने यह भी कहा है कि जिसकी उपलब्धि होती हो वह वस्तु असत् अर्थात् अविद्यमान नहीं कही जा सकती।[२] इन दोनों बातों को–एकत्र करके ब्रेडले ने एक ही वाक्य में कहा कि झूठी से झूठी बात में भी सत्य रहता है। अल्प से अल्प पदार्थ में भी सत् तत्त्व रहता है।[३] इसलिए शांकर मतानुसार कोई भी व्यक्ति या कथन सर्वथा झूठ नहीं हो सकता।

इसलिए सभी धर्म और सभी दर्शन जैसा कि गांधीजी ने कहा है, सच तो हैं किन्तु अधूरे हैं अर्थात् प्रत्येक में सत्य का न्यूनाधिक अंश है। किसी एक में सम्पूर्ण सत्य नहीं है। टेनिसन ने कहा है कि सभी धर्म और दर्शन ईश्वर के हो स्फुलिंग हैं किन्तु सत्यनारायण स्वयं उन सभी में बद्ध न होकर, उनसे दशांगुल ऊँचा ही रहता है[४]—

They are but broken Ligh of thee
And thou O lord ! art more than they[५]—

नीति और सदाचारके विषय में भी यही बात है। एक तामिल लोकोक्ति में कहा गया है कि–'मलयत्तन पापई कडिय तन पुण्य', अर्थात् मलय पर्वत जितने पाप में भी तृण जितना पुण्य रहता ही है। पुण्य के आधार या अधिष्ठान के बिना पाप खड़ा नहीं रह सकता। बड़े से बड़े पापी मनुष्य में भी पुण्य का कुछ अंश तो होता ही है। एक संस्कृत वाक्य में इसी बातको यों कहा है—इस जगत् में दोष रहित और गुण रहित वस्तु या मनुष्य कहीं भी नहीं है—"दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्।"

---

१ वही–पृ० ३६१

२ "न चैवोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति" ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २.२.२७।

3 There is truth in every idea however false. There is reality in every existance however slight–Bradlay-Appearance and Reality.

४ ऋग्वेद–१०–९–१

५–In Memoriam.

इस निरूपण से दो बातें फलित होती हैं–एक तो यह है कि हमें सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता अतएव जब जब हमें जो जो सत्य मालूम हो तदनुसार ही चलना चाहिए। दूसरे के पास भले ही सौ केण्डल पावर का देदीप्यमान दीप हो किन्तु वह हमारे लिए किस काम का? हमारे पास भले ही कांच की बत्ती के अन्दर रखा हुआ तेल का छोटा सा दीपक ही क्यों न हो, आखिर पथप्रदर्शन तो वही करेगा।

ऐसा होते हुए भी हमारे अपने दृष्टिबिन्दु के साथ ही साथ अन्य दृष्टिबिन्दु भी हैं, ऐसा जानने और समझने के बाद हम उन्हें समझने का प्रयास करते हैं अथवा यों कहिए कि उन्हें समझने का प्रयास करना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब हम अपने आपको दूसरे के स्थान पर रखें। इसी बात को अंग्रेजी में यों कहा है—To put oneself into another's shoes दूसरे के जूते में अपना पैर डालना; और To get under his skin—उसकी चमड़ी में घुस जाना। यह क्रिया उस समय तक के लिए परकाया-प्रवेशरूप है। इसीका नाम Sympathy—सहानुभूति—(सह + अनुभूति) है। Sympathy शब्द की व्याख्या डी० किन्सी ने इस प्रकार की है—Act of reproducing in our minds the feelings of another—किसी अन्य व्यक्ति की भावनाओं की अपने मनमें पुनरुत्पत्ति की क्रिया। डी० क्विन्सी ने कहा कि सहानुभूति अर्थात् दया या अनुमति नहीं अपितु सहृदयता अर्थात् दूसरे की भावनाओं में प्रवेश करके उन्हें समझने की क्रिया। गांधी जी ने १९२३ में डा० पट्टाभि से कहा था कि जब मैं किसी मनुष्य को सलाह देता हूँ तब अपनी दृष्टि से नहीं किन्तु उसी की दृष्टि से देता हूँ। इसके लिए मैं अपने को उसके स्थान में रखने का प्रयत्न करता हूँ। जहाँ मैं यह क्रिया नहीं कर सकता वहाँ सलाह देने से इन्कार कर देता हूँ'—I advise a man not from my standponit but from his. I ry to put myself in his shoes. When I connot do so, I refuse to advise.[1]

उनकी इस आदत का परिणाम यह हुआ कि कितना भी मतभेद रखने वाले के प्रति भी वे सहिष्णु रहते और उसके साथ मित्रता रखने में समर्थ होते। १९२६ में साबरमती आश्रम में गांधी जी ने एक बार मुझे कहा—

1—More conversations of Gandhiji—By Chandra Shankar shukla. (Unpublished)

(उन्हीं के शब्दों में) मैं स्वयं Puritan हूँ किन्तु दूसरों के लिए Catholic हूँ[1]।

इस प्रकार की देखने-सोचने की आदत प्रत्येक विषय में हो तो हमें बहुत सी वस्तुएँ अनोखे स्वरूप में ही दिखाई देंगी। इसका एक उदाहरण देता हूँ—'स्त्री की बुद्धि हमेशा तुच्छ ही होती है' इत्यादि स्त्रियों की हीनता दिखानेवाले अनेक वचन पुरुषों ने लिखे हैं। स्त्रियों की तार्किक शक्ति पुरुषों के समान नहीं है, यह सच है। विलियम हेजलिट ने कहा है—स्त्रियाँ मिथ्या तर्क नहीं करतीं क्योंकि वे तर्क करना जानती ही नहीं (Women do not reason wrong for they do not reason at all) किन्तु आँख के दर्शनमात्र से पुरुष के हृदय की परीक्षा करने की जो शक्ति स्त्री में है वह पुरुष में नहीं है। यह भी सच है कि पुरुष में बुद्धि का और स्त्री में भावना का प्राधान्य है। पुराना स्थान छोड़कर नया स्थान स्वीकृत करना पुरुष के लिए सहज नहीं है, पुराने की ममता छोड़ना पुरुषों के लिए सरल नहीं है, किन्तु स्त्री? वह एक स्थान तथा कुटुम्ब की माया-ममता छोड़कर किसी अन्य स्थान तथा अनजान परकीय व्यक्तियों को सहज ही में स्वकीय बना लेती है।

> [2]When crowned with blessings she doth rise
> To take her latest leave of home,
> As parting with a long embrace,
> She enters other realms of love.

इस क्रिया को भी वह सहज तथा सरस रूप से करती है। वही स्त्री माता होने के बाद कितनी बदल जाती है और विधवा होने के बाद सभी वस्त्र तथा आभूषणों को, मौज और शौक को सर्प की कंचुकी की भाँति उतार कर फेंक देने में एक क्षण की भी देर नहीं करती। भावनाओं के इतने परिवर्तनों का एक ही जीवन में अनुभव करना सामान्य बात नहीं है। संसार में यदि सचमुच कहीं जादू है तो वह स्त्रीके हृदय में ही है। गाँधीजी कहते थे कि मेरे अन्दर स्त्री-हृदय है। इसीलिए उन्होंने स्त्री-विकास में काफी योग दिया। अनेक स्त्रियाँ अपना सुख-दुःख निःसंकोच उनके सामने कह सकती थीं। तीन वर्ष पूर्व गुजरात की एक प्रमुख नारी ने मुझे कहा था कि हम स्त्रियाँ अपनी कुछ बातें किसी भी पुरुष के सामने नहीं रख सकतीं किन्तु गाँधीजी के आगे

---

१. गाँधीजी ना समागममां—सं० चंद्रशंकर शुक्ल।

2—Tennyson—In Memoriam—39

अपने मन की बात रखने से ऐसा प्रतीत ही नहीं होता कि हम किसी पुरुष के सामने खड़ी हों। ऊपर जो सहानुभूति के विषय में कहा है उसका अर्थ ऐसा ही तादात्म्य है।

युवकों के प्रेम का उदाहरण लीजिए। तरुण प्रेमी-युगल जगत् में परस्पर को छोड़कर किसी को नहीं देखते। संसार में मानो उनके सिवाय कोई हो नहीं, ऐसा व्यवहार करते हैं–

'These two—they dwelt—with eye on eye' ऐसी उनकी स्थिति होती है। ऐसे प्रेम में चोरी या बुरी नियत न हो तो वह प्रेम शुद्ध ही कहा जायगा। ऐसे युगलोंको पागल कह कर वृद्ध उनकी टीका करें यह ठीक नहीं है। नव-रक्त से सिक्त युवावस्था को शीतल-रक्त युक्त वृद्धावस्था की आँखों से देखना उचित नहीं कहा जा सकता। वसन्त को पतझड़ की दृष्टि से देखना सर्वथा अयुक्त है। पतझड़ को तो ऐसा ही लगेगा कि वसन्त कैसा उड़ाऊ और विलासी है। आषाढ़ की निनादयुक्त तथा मैले पानी वाली नदी को आश्विन की स्वच्छ तथा शान्त जलवाली नदी की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। आषाढ़ में तो नदी का पानी मलीन ही होता है। श्रावण-भाद्रपद व्यतीत हो जाने पर जब आश्विन आता है तब वह स्वतः निर्मल हो जाता है। इसी प्रकार—'नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च' ऐसा यौवन समाप्त होते ही 'रोमान्स' की व्याकुलता स्थिर हो जाने पर शान्त प्रेम का प्रवाह (जिसे एक अंग्रेज कवि ने Settled bliss कहा है) अपने आप बहने लगता है।

वस्तुतः ऐसा शुद्ध प्रेम जहाँ भी है वहाँ स्त्री-पुरुष एक दूसरे के रूप को नहीं देखते–"यह जो पुरुष आँख में दिखाई देता है"—(य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते)[१] उसी को वे देखते हैं। यदि ऐसा न होता तो कृष्ण कोकिला सरीखी लैला के पीछे मजनूं पागल क्यों होता? आयरिश कवि यीट्स के एक काव्य में एक स्त्री को उद्देश्य करके कहा है कि तेरे रूप के विभिन्न अंगों से प्रेम रखनेवाले अनेक व्यक्ति थे, किन्तु तेरे अन्तर में निवास करनेवाले यात्री आत्मा को तो एक ही व्यक्ति चाहता था— .

'But one man loved the pilgrime soul in you.' किसी भी प्रकार के शुद्ध प्रेम में एक आत्मा अपनी प्रेम-क्षुधा को शान्त करने के लिए अन्य आत्मा की आकांक्षा करता है—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं

१—छान्दोग्योपनिषद्—४—१५—१

प्रियं भवति'[1]। विरहातुर गोपियों ने इसी प्रकार के आत्म-प्रेम से प्रेरित होकर ही कृष्ण को कहा था—हे सखा! अब यदि तू नहीं आयेगा तो हम विरहोत्थित अग्नि में अपने देह को भस्म करके ध्यान बल से तेरे पीछे-पीछे चली आएँगी। 'नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहाः ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते'[2] स्त्री-पुरुष के ऐसे अनुराग को हम प्रेम या प्रणय भले ही कहें किन्तु वस्तुतः वह प्रेम या प्रणय से कुछ अधिक होता है। इसीलिए एडगर एलन पो ने एक काव्य में लिखा है—

We loved with a love that was more than love, I and my Annabel lee. राम और सीता, नल और दमयन्ती, शिव और पार्वती, फरहाद और शिरीन जैसे अनेक प्रेमी-युगलों ने ऐसी लोकोत्तर प्रेमाग्नि में अपने जीवन की बलि चढ़ा कर हुताशन को प्रज्ज्वलित किया है। उसी हुताशन के स्फुलिंगों के आधार पर ही संसार में आज पति-पत्नी का प्रेम टिका हुआ है।

स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद किसी भी विषय के दो अन्तों को छोड़कर शान्ति का मध्यम मार्ग ग्रहण करने का आदेश देता है, यह ठीक है किन्तु कई बार इस शान्ति को त्यागकर पागल बनना ही पड़ता है। मनु ने कहा है कि 'सामने की भूमि देखकर पैर बढ़ाना, वस्त्र से छानकर पानी पीना'—(दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्) यह व्यवहारोपयोगी एवं अच्छी शिक्षा है। देख-देखकर पैर बढ़ानेवाले, सौ बार छानकर पानी पीनेवाले, Err on the safe side की सलाह देनेवाले, आगे बढ़ती हुई गाड़ी को खतरे से बचाने के लिए ब्रेक लगानेवाले गार्ड के समान हैं। ऐसे लोगों की भी जगत् को आवश्यकता है किन्तु संसार को आगे बढ़ाने का सामर्थ्य उनमें नहीं होता। गाड़ी खींचनेवाले एंजिन का काम तो धुनी और पागल मनुष्य ही कर सकता है जो जगत् के कंटकाकीर्ण पथ पर दौड़ता है—(मृद्नन्ति कुशकण्टकान्) और विद्ध होने की तनिक भी चिन्ता नहीं करता। किसी भी विषय में सिद्धि प्राप्त करने के लिए पागलपन की धुन सवार होना आवश्यक है। एक अंग्रेज लेखक ने कहा है कि 'सर्वोच्च कोटि की सिद्धि और सभी का ध्यान आकर्षित करनेवाली सफलता प्राप्त करना हो तो मन की

१—बृहदारण्यकोपनिषद्—२—४—५

२. भागवत-१०-२९-३५

एकाग्रता का अवलम्बन लेना चाहिए, किन्तु वह एकाग्रता कैसी ? पागलपन के बिल्कुल समीप पहुँचनेवाली एक प्रकार की तद्विषयक तमन्ना—

'Supreme achievement and outstanding success are only rendered possible by mental concentration, by a sublime monomenia verging on lunacy.

स्याद्वाद का अर्थ यही है कि सद्गुण के अनेक रूप हैं। साधु की तपस्या, सती का सतीत्व, बालक की निर्दोषता, सुभट का शौर्य आदि सभी के लिए संसार में स्थान हैं। स्याद्वादी इन सभी का सम्मान कर सकता है। वह यदि निसर्गप्रेमी हो तो वर्षाकाल की वर्षा, शरद ऋतु की शीतलता और ग्रीष्म काल का आतप इन सभी अवस्थाओं का आनन्द ले सकता है क्योंकि वह समझता है कि प्राकृतिक रचना में इन सब को स्थान है, सभी का उपयोग है। इनमें से किसी भी ऋतु की विपरीतता से अन्य ऋतुएँ भी विकृत हो जाती हैं। जो कुछ अनुभव में आवे उसके साथ समरस होने का प्रयास करना, यही स्याद्वाद की प्रवृत्ति का चिह्न है। स्याद्वाद अपने विरोधियों के कथन का उन्हीं की दृष्टि से आदर कर सकता है, यद्यपि वह उससे सर्वथा सम्मत न भी हो। दधि-दूधवाली—ढुलमुल नीति की निन्दा की जाती है किन्तु वह सदैव के लिये अवगुण ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। दधि और दूध दोनों के गुण जाननेवाला यदि प्रकृति-भेद के कारण दधि नहीं खा सकता तो भी वह उसके गुण की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह यह समझता है कि प्रत्येक वस्तु और कार्य अपने ही समुचित स्थल-काल-संयोग में सुशोभित होते हैं। यदि अनुचित कालादि संयोगों में रखे जायँ तो निन्दापात्र कुरूप या जुगुप्सित हो जाते हैं। इसीलिये 'मैले' शब्द की व्याख्या की गई है कि 'अस्थान में रखा हुआ पदार्थ—(Matter misplaced is dirt) अतएव कोई भी वस्तु या कार्य स्वतन्त्र रूप से असुन्दर या निरुपयोगी नहीं होता। त्याज्य मल भी जब जमीन में गाड़ा जाता है तब वह बहुमूल्य खाद के रूप में कृषि के लिये पुष्टिकारक पदार्थ बन जाता है।

अतएव ढुलमुलनीति जैसे छिछोरे आक्षेपों का जोखिम उठाकर भी स्याद्वाद सापेक्षवाद—अर्थात् रिलेटिविटी—का सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध दीखनेवाली वस्तुओं का एकत्र समर्थन करता है और परस्पर विरोधी वस्तुओं के संमिश्रण का प्रयत्न करता है। वह कहता है कि मनुष्य में और समाज में प्रेम आवश्यक है और वैराग्य भी आवश्यक है, कोमलता चाहिए और कठोरता भी चाहिए; छूट चाहिए और मर्यादा भी चाहिए। प्रणालिकारक्षण और प्रणालिका

भंग दोनों आवश्यक हैं। यदि वस्तुतः देखा जाय तो यही सलाह सच्ची है। उदाहरण के तौर पर प्रेम और वैराग्य परस्पर विरोधी नहीं हैं अपितु एक ही सिक्के के दो बाजू हैं। प्रेम में जब वैराग्य की मात्रा हो तभी वह सच्चा प्रेम हो सकता है अन्यथा वह केवल मोह या आसक्तिरूप बन जायगा। "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः"[१] (त्याग करके भोग करो) उपनिषद् के इस वाक्य में यही बात कही गई है। दूसरी ओर वैराग्य भी प्रेम से अनुरंजित होने पर ही सुशोभित होता है और सुफलदायक बनता है अन्यथा वह मनुष्य के हृदय को शुष्क वीरान बना देता है। स्त्री पुत्रादि के साथ कलह करके यदि संसार त्याग किया हो तो वह वैराग्य नहीं है। सिद्धार्थ का यशोधरा से असीम स्नेह था इसी से उनका गृहत्याग महाभिनिष्क्रमण कहा गया और उसी में से "आत्मनो हिताय जगतः सुखाय च" इस प्रकार का संसार के लिये एक उपयोगी सन्देश प्रकट हुआ। उपवीत धारण करने के पूर्व ही संसार के कर्मों का त्याग करके प्रव्रज्या लेनेवाले (यं प्रव्रजन्तमनुपेतकृत्यम्) शुकदेव को जिस समय उनके पिता द्वैपायन ढूँढने निकले उस समय उन्हें विरहातुर स्वर से 'बेटा!' कह कर पुकारने लगे। शुक वृक्षों में तन्मय थे अतः वृक्षों ने प्रत्युत्तर दिया—(तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः)। वैराग्यमूर्ति शुक ने भूतमात्र के हृदय के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लिया था (सर्वभूतहृदयम्)। ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास लेनेवाले शंकर के हृदय में अपनी माता के प्रति इतना प्रेम था कि उसकी मृत्यु होने पर संन्यासी के वह्नि-स्पर्श के नियम को तोड़ कर उसके शवका अग्नि-संस्कार किया था। इतना होते हुए भी अपने देश में पिछले एक हजार वर्ष की जो दीर्घकालीन रात्रि आई उसमें शुष्क वैराग्य का विकास हुआ और सगे-सम्बन्धी स्वार्थ के साथी हैं, ऐसा कह कर ही वैराग्य के उपदेश दिये गये। ऐसे वैराग्य ने विकृति उत्पन्न की और देश की बहुत बड़ी हानि की। सगे-सम्बन्धी सभी स्वार्थी; और निःस्वार्थी तो हम अकेले ही! जन्म से लगा कर मरण पर्यन्त निःस्वार्थ प्रेम और सेवा के अनेक अनुभव होते हुए यह कैसे कहा जा सकता है? दूसरी ओर ऊपर जो लोकोत्तर प्रेम की बात कही गई है वहाँ भी पति-पत्नी, प्रेम के अतिरिक्त जगत् में अन्य कोई कर्तव्य नहीं है, ऐसा मानने पर दोष पात्र ही गिने जायँगे।

स्याद्वाद अथवा सापेक्षवाद से दूसरी बात यह फलित होती है कि कोई

---

१. ईशोपनिषद्—१

भी गुण जब तक अपनी मर्यादा का उपल्लंघन नहीं करता, गुण रहता है, किन्तु यदि उसमें न्यूनता या अतिशय आ जाय तो वह दोष हो जाता है। यही मध्यम मार्ग है। गीता में भी कहा है कि समत्व ही योग है। मैडेम ब्लेवेट्स्की ने सन्तुलन (equilibrium) रखने का उपदेश दिया है। किन्तु जीवन में सद्गुण की साधना करना और साथ ही साथ सन्तुलन की रक्षा करना—रस्सी पर नाचने से कम नहीं है। जीवन का लोलक जब तक हिलता रहता है तब तक वह बीच की समत्व स्थिति से आगे या पीछे ही रहता है। बीच की स्थिति में तो केवल एक क्षण के लिए ही आता है। यदि वह उसी स्थिति में हमेशा के लिए स्थिर हो जाय तो जीवन की घड़ी ही बन्द हो जाय। अतः जीवन की गति सतत सन्तुलन को बिगाड़नेवाली ही एक क्रिया है। तथापि जीवन की गति को चलाते हुए सन्तुलन की रक्षा करना, यही मनुष्य का साध्य है। ऊँचे लटकाये गये तराज़ू के दोनों पलड़ों को स्थिर रखने की क्रिया के समान यह मार्ग धर्म-साधना की दृष्टि से ही नहीं अपितु सफल एवं सरल व्यवहार के लिए भी आवश्यक है।

इसके कुछ उदाहरण लीजिए—घरेलू वस्तुओं की सुव्यवस्था आवश्यक एवं प्रशंसापात्र सद्गुण है। उसका अभाव फूहड़पन कहा जाता है। किन्तु जगत् में ऐसे स्त्री-पुरुष भी हैं जो घर की किसी सुव्यवस्थित चीज के एक बार इधर उधर हो जाने से इतने दुःखी होते हैं मानो उनकी जान ही निकल जाती हो। सुव्यवस्था की चिन्ता के पीछे पागल हो जानेवाली स्त्री अपने पति या बच्चों से हमेशा झगड़ा किया करती है और सब की दृष्टि में हीन बनती है। उसे समझना चाहिए कि जिस घर में मनुष्य होते हैं उस घर की व्यवस्था भी बिगड़ती ही है, किन्तु उसे सुधारा भी तो जा सकता है। व्यवस्था बिगाड़ने वाले मनुष्य भी कभी-कभी दुर्लभ होते हैं। इसीलिए तो सुन्दर गृहाङ्गण की रंगावट को बिगाड़ने वाले बालक की प्राप्ति के लिए आतुर स्त्री प्रभु से प्रार्थना करती है कि 'हे प्रभो! मुझे नन्हे-नन्हे पद-चिह्न बनाने वाला बच्चा दीजिए।'

नियमितता अवश्य ही एक सद्गुण है, किन्तु उसका जो सीमोल्लंघन है वह एक दुर्गुण ही है, इसका एक उदाहरण जो कि मैंने अपने सम्माननीय मित्र से सुना है, देता हूँ। यह बात बीस वर्ष पुरानी है। हरिलाल भाई नामक एक अफसर थे। नियमितता विषयक तत्परता के कारण हास्यदृष्टिकोण से उनके मित्रों ने उनका नाम रखा था—'हरिलाल दी रेग्युलर'। हरिलाल भाई नियमितता के इतने पक्के थे कि यदि उनके मित्रों को रविवार के दिन दोपहर के बारह बजे आने का आमन्त्रण दिया गया हो और ठीक बारह बजते ही

यदि वे न आये हों तो वे स्वयं अकेले ही भोजन करने बैठ जाते थे। यह विवेक की कमी है। अतिथि समय पर न आवे और गृहपति को किसी कार्य के लिए नियमित समय पर कहीं उपस्थित होना हो, ऐसी स्थिति में पहले भोजन करने बैठ जाना कोई अविवेक नहीं है किन्तु रविवार या छुट्टी के दिन भी आमंत्रित मित्रों की प्रतीक्षा न करना पोथी-पंडिताई का आग्रह मात्र है।

स्वास्थ्य अच्छा और आवश्यक गुण है किन्तु ८२ वर्ष की उम्र तक जीने वाला एक ग्रंथराशि का निर्माता टॉलस्टॉय लिखता है कि जिस मनुष्य ने कभी कष्ट सहन नहीं किया, जो कभी बीमार नहीं हुआ, जो प्रजा सर्वदा निरोगी है, अमर्याद निरोगी है वह राक्षस है—

A being who has never suffered, who has never been ill, always healthy, too healthy, is a monster.

जो व्यक्ति कभी बीमार नहीं होता वह दूसरे बीमार व्यक्ति की वेदना कैसे जान सकता है? इसलिए जो कवि, कहानी लेखक, या उपन्यासकार पाठक को रुलाना चाहता है उसे स्वयं रोना पड़ता है। विक्टर ह्यूगो ने कहा है कि जो रोता नहीं वह देखता भी नहीं। (He who does not weep does not see.) संसार में कोई भी मनुष्य सर्वसद्‌गुणों का समान भाव से अनुशीलन नहीं कर सकता। देश-काल का वातावरण, आनुवंशिक संस्कार तथा पूर्व जन्म से प्राप्त एवं इस जन्म में विकसित वृत्ति इन सभी सीमाओं के अनुसार ही वह भिन्न-भिन्न गुणों का अनुशीलन कर सकता है। उसकी शक्तियों के विकास में भी इसी प्रकार का तारतम्य आ जाता है। प्रकृति का गुरुत्वाकर्षण सर्वत्र संतुलित है, अतः एक गुण या शक्ति की न्यूनता या अधिकता होने पर उसके पूरक गुण या शक्ति उसी परिमाण में कम या अधिक होते हैं। एक इन्द्रिय के कमजोर होने पर दूसरी अधिक बलवान् होती है। एक के अधिक बलवान् होने पर दूसरी मन्द हो जाती है। व्यवहारकुशल व्यापारी पाई-पाई का हिसाब लगाकर सम्पत्ति एकत्रित करता है। यह उसकी विशेष कुशलता है और जगत् को उसकी अत्यन्त आवश्यकता है, किन्तु सम्भव है कि भावुक कवि भाव-ताव के रगड़े से परिचित न हो। ऐसा होते हुए भी उसकी निन्दा नहीं की जा सकती। उसके पास एक अन्य अद्भुत शक्ति है जिसे शेली ने संवादी पागलपन (Harmonious madness) कहा है। चातक के सामने अपनी माँग रखते हुए वह कहता है कि तू मुझे ऐसी शक्ति दे जिससे जगत् मेरा गान उसी प्रकार कान लगाकर सुने जैसा कि तेरा गीत इस समय मैं सुन रहा हूँ।

संसार में गुण और शक्ति का ऐसा ही विभाग है। इसी से संसार गतिशील है। यदि हम इतना सा समझ लें तो हमारे पास जो शक्ति या कुशलता न हो उसके लिए हम आक्रन्दन न करें और अपनी कमी का भी हमें कोई न कोई लाभ ही दिखाई दे।

इसके उपरान्त मनुष्य की जो विशेषता एक दृष्टि से गुणरूप प्रतिभासित होती है वही अन्य दृष्टि से दोषरूप दिखाई देती है। लेकी ने अपने हिस्ट्री-आफ यूरोपियन मोरल्स् में इसका एक उदाहरण दिया है कि जो मनुष्य उदार होता है वह खर्चीला दीखता है और जो मनुष्य करकसर पूर्वक खर्च करता है वह कंजूस दीखता है। इसी प्रकार स्त्री का प्रेम संकुचित है क्योंकि वह अनन्य है, उसका मन अन्यत्र नहीं जाता, यही उसकी शोभा है। नदी का प्रवाह जहाँ गहरा होता है वहाँ संकरा और जहाँ विस्तृत होता है वहाँ छिछला होता है या नहीं? यही बात स्त्री के प्रेम के विषय में भी समझना चाहिए। जिस प्रेम के बल से अन्तर का प्रत्येक तार हिल उठता है वह प्रेम एक ही साथ कितने व्यक्तियों में बहाया जा सकता है?

इमरसन ने इसे Law of compensation-क्षतिपूर्ति का नियम कहा है। इस विषय का उसका जो निबन्ध है वह स्याद्वाद विषयक ही है। उसमें उसने लिखा है कि हमारी शक्ति अपनी निर्बलता से ही उत्पन्न होती है। (Our strength grows out of our weakness) प्रत्येक मिठास में खटाई का अंश होता ही ह और प्रत्येक बुराई में भलाई का पक्ष भी रहता ही है—

Every sweet hath its sour; every evil its Good.

फ्रांसिस टोमसन ने भी कहा है कि माधुर्य में शोक और शोक में माधुर्य समाविष्ट ही है–The sweetness in the sad and the sadness in the sweet. यही समझ हमें बहुत आश्वासन देती है। इतना ही नहीं किन्तु इससे हमें दूसरों में जो दोष दिखाई देते हैं उनमें भी गुणों का दर्शन होने लगता है। उदाहरण के तौर पर एक समय जब प्रान्तीयता की हवा चली तब गुजरात और महाराष्ट्र दोनों प्रान्तों के व्यक्तियों के समक्ष उनकी अपनी कटु टीका सुनाने का अवसर सद्भाग्य या दुर्भाग्य से मुझे मिला था। गुजराती जब महाराष्ट्रियों के हठीलेपन की टीका करते तब मैं कहता कि यह उनका दोष है, यह सच है। 'अपने प्रतिपक्षियों के साथ शीघ्र समाधान करो'—

Agree with thine adversary quickly—यह ईसा का उपदेश उनके गले नहीं उतरता, किन्तु हठीलापन पहाड़ी प्रजा के स्वभाव का एक

विशेषता है और अमुक अवस्था में वह गुणरूप होता है। पहाड़ी व्यक्ति युद्ध में सहज ही नहीं झुक सकता। वह पर्वत की एक-एक दरार में खड़ा रह कर लड़ सकता है। हम गुजरातियों में जो समाधान वृत्ति है वह भी एक बड़ा सद्‌गुण है। इससे समाज में बहुत मीठापन रहता है, किन्तु अपनी उसी वृत्ति का दूसरा पहलू भी देखें तो दिखाई देगा कि हम वेतसी वृत्ति के लोग हैं। पवन का एक झोंका आया कि झुक गये। मुसलमान, मराठा और अंग्रेज आये। हम लोगों ने अपने पर उन्हें निर्विघ्न राज्य करने दिया। ई० स० १३०० और १५०० के बीच हमारे यहाँ स्वतंत्रता के लिए एक भी लड़ाई नहीं हुई किन्तु जिन्हें हम हठीले कहते हैं उन महाराष्ट्री-भाइयों ने जिस समय स्वराज्य और स्वदेश की भावना प्रायः लुप्त थी उस समय अपने बलिदान द्वारा उन दोनों भावनाओं को जीवित रखने का प्रयत्न किया। इसके लिए हम उनके ऋणी हैं। दूसरी ओर महाराष्ट्री मित्र कहते थे कि गुजराती पुलिस और सेना में सम्मिलित नहीं होते। उनमें वीरता कहाँ है? तब मैं कहता कि वीरता एक ही प्रकार की नहीं होती। व्यापारी लाभ और हानि में मन का सन्तुलन रखता है। यह भी वीरता का एक प्रकार है और फिर गुजराती प्रजा अधिक अंश में समुद्र के किनारे पर रहनेवाली प्रजा है। ई० पू० के जमाने में किसी समय गुजरात के विजयकुमार ने सिंहल की कुमारी से विवाह किया और गुजराती में 'लंकानी लाडी ने घोघानो वर' कहावत प्रसिद्ध हुई। उस समय तो यह बात ठीक थी ही किन्तु आज भी विदेश में जहाँ कुछ हिन्दुस्तानी रहते हैं वहाँ एक न एक गुजराती अवश्य मिलेगा। कवि नानालाल ने ठीक कहा है कि—

'महासागर ना पृथ्वी विशाल
सरोवर कीधां गुर्जरी बाल'

अर्थात् पृथ्वी पर बड़े-बड़े महासागर हैं किन्तु गुजराती—व्यक्तियों ने उसे सरोवर वाली कर दी।

इस प्रकार लगातार कई वर्षों तक कुटुम्ब को देश में छोड़कर नौकाओं द्वारा जाते रहना, विदेश में जाकर वहाँ के लोगों की सद्‌भावना प्राप्त करना—(क्योंकि व्यापार लुच्चाई पर नहीं चलता अपितु सद्‌भावना पर चलता है और इसीलिए सद्‌भावना का व्यापार में महत्त्व है) और अकेले या छोटे-मोटे झुण्ड में रहकर जंगल में मंगल करना, इन सब बातों में क्या वीरता की आवश्यकता नहीं है? गुजराती मनुष्य तलवार—बन्दूक लेकर लड़ने के लिए नहीं

जाता, किन्तु पैसे का नाम लेने पर पृथ्वी के उस पार जाने में भी संकोच नहीं करता और पत्थर को तोड़ कर भी पैसा पैदा कर सकता है। इस बात को सुनकर महाराष्ट्री मित्र कहते थे कि सच बात है। हम लोग इस तरह विदेशों में नहीं जा सकते।

ए. जी. गार्डिनर ने अपने एक निबन्ध में किसी एक फ्रेन्च लेखक का उद्धरण दिया है। उसमें उसने लिखा है कि जोन और स्मिथ जब मिलते हैं तब वस्तुतः छः व्यक्तियों का मिलन होता है। वह इस प्रकार है—जोन के अपने मन में जोन का खुद का चित्र, स्मिथ के मन में जोन का चित्र, ईश्वर की दृष्टि में जोन का चित्र, (John as John Knows himself, John as Smith knows him, John as God knows him) इसी प्रकार तीन स्मिथ। इसका तात्पर्य यह है कि हम अपने को या किसी अन्य को सम्पूर्ण रूप से नहीं जान सकते। यह समझ एक ओर हमें अन्य के प्रति उदार बनना सिखाती है और दूसरी ओर अन्य के द्वारा होनेवाली टीका के प्रति सहिष्णु बनना सिखाती है अर्थात् अन्य के दर्पण में हमारा जो प्रतिबिम्ब है उसे देखने की शिक्षा देती है।

जवाहरलाल जी के एक लेख के विषय में एक पत्र में मैंने ज्वलन्त अर्थात् 'ब्रिलियन्ट' विशेषण का प्रयोग किया था। इसके लिए गांधी जी ने १९१४ में सेलम में मुझे बहुत डाँटा। उन्हें ऐसा लगा था कि मैंने जवाहर लाल जी को यह सर्टिफिकेट दिया है। वह स्तुति करने में भी मर्यादा रखने की शिक्षा थी। गांधी जी ने लिखा भी है—घटना का विशेषणों के शृंगार से रहित वर्णन, पल्लवित भाषा से अतिरंजित वर्णन की अपेक्षा अधिक छटादार और प्रभावोत्पादक होता है[1]—A bare Statement of facts unembellished with adjectives is far more eloquent and effective than a narrative glowing with exhuberant language.—

बहुत वर्षों के बाद डीन इंज द्वारा किया गया, इसी का समर्थन मेरे देखने में आया। 'विशेषणों की कमी करो' ([2]Be chary with your adjectives) व्यापारी बनिये से एक आदत सीखने जैसी है। वह अपने बहीखाते में जमा पक्ष प्रथम लिखता है और नाम पक्ष बाद में अर्थात् पहले वह

1—Young India—*27-9-19*

2—A Rustic moralist—P. 305

अपने ऋण का विचार करता है अर्थात् पहले अपने कर्तव्य को ध्यान में रखता है और बाद में अपने लेने अर्थात् अपने अधिकार का विचार करता है। इसी प्रकार हम भी किसी मनुष्य के जमा-पक्ष का अर्थात् उसके गुण की परीक्षा पहले करें तो हमें लाभ ही होगा। फिर दोष तो सहज ही दिखाई देंगे क्योंकि मनुष्य के दोष तो छप्पर पर चढ़कर बोलते हैं। गुण देखने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, दोष देखने के लिए नहीं। ऐसा करने से हम में सहिष्णुता आती है किन्तु मनुष्य के प्रति सहिष्णुता या दया रखने के विचार में भी अविवेकी उद्धतपन रहा हुआ है। वस्तुतः हमें सबके प्रति आदर-बुद्धि ही रखनी चाहिए, क्योंकि सबके भीतर परमात्मा बैठा हुआ है, ऐसा रामकृष्ण परमहंस ने सिखलाया है। भागवत में भी कहा है कि इन सभ प्राणियों को आदर से नमस्कार करना चाहिए क्योंकि उनमें जीव-रूपी कला या अंश द्वारा ईश्वर ने प्रवेश किया है।[१]

इसी विषय में एक अन्य अंश पर भार देते हुए ईसा ने भी कहा है कि तुम किसी के काजी मत बनो (Judge not) जीवन में पद-पद पर अन्य व्यक्तियों से काम पड़ता है ऐसी दशा में उनकी शक्तियों का नाप भी करना ही पड़ता है, किन्तु इसमें अन्य के प्रति उदार दिल रखने की आवश्यकता है। उपनिषद् ने कहा है कि मन को बड़ा रखो, वह व्रत है—'महामना स्यात्, तद् व्रतम्।' इसी को सेन्ट पॉल ने charity—कहा और उसे श्रद्धा तथा आशा से भी बड़ा पद दिया—

And now abideth faith, hope, charity these three; but the greatest of these is charity. इसी Charity को गीता में 'आत्मौपम्य' कहा है और धम्मपद में जिसके विषय में 'अत्तानं उपमं कत्वा' ऐसा कहा गया है।

किन्तु गुणों के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका कहीं अनर्थ न हो, इस दृष्टिकोण को सामने रखकर इतना सा स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूँ कि 'पाप-पुण्य में कोई भेद नहीं है और 'रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' कहना एक ही बात है,' ऐसा स्याद्वाद का अर्थ नहीं है। जो तारतम्य है वह गुणोत्कर्ष की अपेक्षा से है। इसी के साथ इतना और समझना चाहिए कि

१—मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥

कई बार पाप-पुण्य का निर्णय करना जरा अटपटा-सा हो जाता है। इसी प्रकार कई बार व्यक्ति अनिच्छा होने पर भी विवश होकर पाप करता है। हम स्वयं भी ऐसा ही करते हैं। इससे गाँधीजी ने यह फलितार्थ निकाला कि पाप का तिरस्कार करना चाहिए, पापी का नहीं। पाप पर दया करके उसे पुण्य की कोटि में रखने से अनर्थ ही होता है। इसलिए इतिहासकार को ऐतिहासिक व्यक्तियों के कार्य का मूल्यांकन करने की जो सलाह लार्ड एक्टन ने दी है वह ठीक है, क्योंकि वहाँ न्याय व्यक्ति का नहीं अपितु उनके कार्यों का होता है।

जीवन में अनुभव (Experience) और तर्क (Reason) दोनों की भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं। अनुभव की दृष्टि के देखने पर मालूम होता है कि प्रकृति ने जगत् के समान जीवन में भी वाड़ खड़ी नहीं की है। जीवन में तो तेज और छाया (Light and shade) है अथवा जैन-दर्शन के कथनानुसार तरतम भाव है। वाड़ें या दीवारें तो तर्क ने खड़ी की हैं। पारिभाषिक शब्द का प्रयोग करके कहूँ तो Division by dichotomy—नितान्त भिन्नत्व तर्क में है, जीवन में नहीं। Contrary (शीत और उष्ण) और Contradictory (शीतल–अशीतल) इन दोनों का ऐक्य तर्क में है, जीवन में नहीं। Distinct अर्थात् भिन्न और Opposite अर्थात् विरुद्ध एक नहीं हैं। क्रोस ने कहा है कि दो भिन्न (distinct) कल्पनाएँ एक दूसरे के साथ भिन्न होने पर भी मिल सकती हैं। किन्तु दो विरुद्ध (Opposite) कल्पनाएँ एक दूसरे से निराली और भिन्न ही रहती हैं।

(Two distinct concepts unite with one another although they are distinct but two opposite concepts seem to exclude one another[1]) इसका दृष्टान्त देते हुए राधाकृष्णन् ने कहा है कि चिन्तन और कर्म भिन्न हैं, किन्तु विरुद्ध नहीं (Contemplation and life are distincts, not opposites)[2]

हमारा अनुभव है कि शीत-उष्ण, पतला-मोटा, ऊँचा-नीचा—इन द्वन्द्वों में विभाजन की कोई ऐसी रेखा नहीं होती जहाँ पर एक समाप्त होकर दूसरा प्रारंभ होता हो। एक ही पानी शीतल और उष्ण कहा जा सकता है। एक मनुष्य जो कि दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा ऊँचा है, तीसरे की अपेक्षा नीचा हो सकता है। एक रोटी एक को पतली मालूम होती है किन्तु वही रोटी

1—Philosophy of Hegel—E. T.

2—Religion and society P. 70

दूसरे को मोटी लग सकती है । इसलिए ये सब विशेषणद्वन्द्व एक दृष्टि से सच्चे और दूसरी दृष्टि से झूठे हैं। पहले जैसा कहा है—दोनों अन्तों के बीच की जो स्थिति है उसका यथार्थ वर्णन करने के लिए हमारी भाषा में शब्द नहीं है। यह कठिनाई तत्त्व चिन्तकों की दृष्टि में बहुत पहले से ही रही हुई है। इसीलिए वेदान्तियों ने कहा कि जगत के पदार्थ अनिर्वचनीय हैं, जैनों ने कहा कि अवक्तव्य हैं और बौद्धों ने कहा कि किसी भी वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्बन्ध बताये बिना वर्णन नहीं हो सकता, अतएव वस्तुमात्र निःस्वभाव होने से शून्य है। यहाँ तीनों शब्द भिन्न-भिन्न भले ही हों, किन्तु तीनों का भावार्थ एक ही है।

अनुभव का ही सम्पूर्ण रूप से अनुसरण करके कहना हो तो यों कहना पड़ेगा कि शीत-उष्ण पानी लाओ, ऊँचे-नीचे मनुष्य को बुलाओ, मोटी-पतली रोटी दो; किन्तु इस प्रकार जीवन का व्यवहार नहीं चल सकता, इसलिए कृत्रिम होनेपर भी व्यवहार के लिए तर्क द्वारा मण्डित विभाजन का आश्रय लेना ही पड़ता है। वक्ता और श्रोता के मन में शीत-उष्ण, मोटा-पतला इत्यादि विषयक समझ किसी सीमा तक एक सरीखी हो तभी व्यवहार सरलता पूर्वक चल सकता है। पदार्थों के जो द्वन्द्व परस्पर नितान्त भिन्न नहीं होते उन्हें नितान्त भिन्न मानकर ही तर्क की भाषा में बोलना पड़ता है, यह कठिनाई अवश्य है। प्रत्येक कथन अमुक स्थल, काल, संयोग आदि की अपेक्षा से ही होता है, किन्तु बोलनेवाला उस स्थल, काल, संयोग की मर्यादा का कथन नहीं कर सकता। कहने का प्रयत्न करने पर उसकी भाषा अटपटी और बेढंगी बन जाएगी और व्यवहार नहीं चल सकेगा। सुननेवाला या पढ़नेवाला उसे अन्य ही अनपेक्षित स्थल, काल, संयोगादि की अपेक्षा से समझने लगे तो भ्रम हुए बिना नहीं रह सकता। इसीलिए दुनिया में हम देखते हैं कि कोई मनुष्य अपने कथन के विषय में कितनी ही स्पष्टता क्यों न करे फिर भी कहीं न कहीं उसके विषय में भ्रान्ति हो ही जाती है। भाषा की इस मर्यादा का ध्यान रखकर राधाकृष्णन् ने कहा है कि मनुष्यों के बीच मिथ्या धारणा होना कोई आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो इसमें है कि उनमें परस्पर इतनी धारणाएँ हैं। रवीन्द्रनाथ ने 'साधना' में कहा है कि मनुष्य अपनी स्थूलतम आवश्यकताओं के अतिरिक्त अपनी अत्यन्त स्पष्ट भाषा में अन्य कुछ भी नहीं समझा सकता।

इस प्रकार से जीवन के अनुभव और तर्क, ये दो शिखर हैं। किसी

समय मनुष्य एक पर खड़ा रहकर बोलता है और कभी दूसरे पर। किन्तु वह एक-एक वाक्य के पीछे यह नहीं कह सकता कि इस समय मैं अमुक शिखर से बोल रहा हूँ। व्यवहार चलाने के लिए इसी प्रकार की गति आवश्यक है। अनुभव कहता है कि जो वस्तु ठंडी है वह गरम भी है। तर्क कहता है कि वस्तु या तो ठंडी ही है या गरम ही है। ठंडी और गरम एक साथ नहीं हो सकती। इसीलिए अनुभव और तर्क का विरोध अपरिहार्य है। मनुष्य भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न शिखर पर खड़ा रहकर बोलता है अतः उसके कथन में परस्पर विरोध होना स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में किसी व्यक्ति के वचनों में परस्पर असंगति बताकर उसका खण्डन करने का आनन्द लिया जा सकता है किन्तु खण्डन करनेवाले—अपितु व्यक्तिमात्र के कथन में भी परस्पर विरोध होता ही है। इसलिए हमें इस प्रकार के आक्षेप से नहीं घबराना चाहिए। एक अँग्रेज लेखक ने कहा है:—क्या मैं अपने कथन से विपरीत बोल रहा हूँ ? ठीक है, तब मैं अपने आप से विपरीत हूँ। (Do I contradict myself? well, then I contradict myself.) इसका एक और दृष्टान्त लीजिए—शंकर ने जैन सप्तभङ्गी की टीका करते हुए कहा कि अस्ति—नास्ति दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ? कोई वस्तु या तो है या नहीं है। वस्तु है—नहीं है (सदसत्) कैसे हो सकती है ? यह टीका तर्क-दृष्टि से की गई थी। किन्तु अनुभव-दृष्टि से तो उन्हें भी कहना पड़ा कि सत् असत् का मिश्रण होता है। इसीलिए सत्य और अनृत के मिश्रण से संसार का नैसर्गिक व्यवहार चलता है। (सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः) अनुभव की समझ और तर्क का वचन इन दोनों के उक्त विरोध के कारण तत्त्वज्ञान और व्यवहार में बहुत गड़बड़ी तथा झगड़े होते हैं। जगत् वस्तुतः विद्यमान है फिर भी वह नित्य नहीं, किन्तु अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील है। ऐसा सभी विचारक मानते हैं, किन्तु भाषा का प्रयोग करना हो तो उसके लिए सत् या असत् शब्द का ही प्रयोग करना पड़ता है। एक व्यक्ति कहता है—जो विद्यमान है उसे असत् कैसे कहा जाय ? अतएव जगत् सत् है। दूसरा कहता है—जो जगत् परिवर्तनशील है, जिसके पदार्थ क्षण-क्षण में उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं उसे सत् कैसे कहा जाय ? वह तो असत् ही है। शंकर जैसा विचारक कहेगा कि जगत् असत् जैसा (असदिव) है। यहाँ जगत् की वास्तविक सत्ता और उसकी अनित्यता को दोनों में से कोई भी पक्ष अस्वीकृत नहीं करता। एक उसकी सत्तामात्र पर जोर देकर उसे सत् कहता है तो दूसरा उसकी अनित्यता पर भार देकर उसे असत् कहता है।

अधिक सूक्ष्मता से सोचने पर मालूम होता है कि दोनों व्यक्ति सत् और असत् इन दोनों शब्दों का प्रयोग स्वाभिमत भिन्नार्थ में ही करते हैं। पहला सत् का अर्थ 'अनित्य होते हुए भी विद्यमान' ऐसा करता है और दूसरा सत् का अर्थ 'नित्य और सदा एक रूप' ऐसा करता है। दोनों पक्ष जब परस्पर एक दूसरे का खण्डन करते हैं तब प्रतिपक्षी को सत् का जो अर्थ विवक्षित है उसे न देखकर "प्रतिपक्षी ने मत्सम्मतार्थ में ही सत् शब्द का प्रयोग किया है" ऐसी कल्पना कर लेता है और प्रतिपक्षी के ऊपर उस अर्थ का आरोपण करता है। इससे सिद्ध होता है कि अन्य व्यक्ति की बात समझने के लिए कितनी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होती है।

इस निरूपण से दो बातें फलित होती हैं–एक तो यह कि संसार में कुछ भी असंकीर्ण नहीं है–सब संकीर्ण है–मिश्र है। किसी भी प्रश्न का एक निदान नहीं है और न एक उपचार ही है। जीवन का कोई भी क्षेत्र या अङ्ग लिया जाय उसमें इन्द्रधनुष के समान विविध रंगों का मिश्रण होता है। यह जान कर हम विविधता और मिश्रण से व्याकुल नहीं होते। विविधता प्रकृति को प्रिय है। यही उसकी लीला है। तब हम विविधता के अवलोकन से रस ग्रहण करने के बजाय व्याकुल क्यों हो? लेकी ने कहा है कि जीवन कविता नहीं है, इतिहास है–Life is history and not poetry. इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन में कविता की आवश्यकता नहीं है अपितु इसका आशय यही है कि संसार में कुछ भी सीधा और सरल नहीं होता। सर्वत्र उतार–चढ़ाव दृष्टिगोचर होता है। उसमें अनेक विरोधी बल एक ही साथ कार्य करते हैं। उसमें एक ही काल में ऊर्ध्वगति और अधोगति दोनों हैं। ऐसी पेचीदा स्थिति में क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। इसीलिए गीता में कहा है कि क्या कर्म है और क्या अकर्म है, इसका निर्णय करने में ज्ञानी भी भ्रान्त हो जाते हैं। (किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः) गाँधीजी ने कहा है कि जीवन का मार्ग सीधा नहीं है। उसमें बहुत उलझनें हैं। वह रेलगाड़ी नहीं कि एक बार चलने पर बराबर दौड़ती ही जाय–

[1]Life is not one straight road. There are too many complexities in it. It is not like a train which once started keeps on running.

1–C. P. Shukla-'Conversation of Gandhiji P. 10.

दूसरी बात यह है कि संसार में जितने भी मतभेद हैं उनका अधिकांश तो दृष्टिभेद और एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न अंगों पर भार देने के कारण है। जो व्यक्ति जगत् की एकता की खोज में लगा हो उसे विविधता की उपेक्षा करनी पड़ती है। उस विविधता को वह पश्यन्नपि न पश्यति। भर बाजार में खोए हुए बालक की खोज करनेवाली माता की दृष्टि में दुकानों की व्यवस्थित आकर्षक वस्तुओं का कोई मूल्य नहीं। उसके लिए उस समय वे सब चीजें मानो हैं ही नहीं—असदिव हैं। तत्त्वज्ञान की भाषा में 'माया' है। उस स्थल-काल में उस स्त्री को मायावादी कहा जा सकता है, किन्तु बाजार में घूमनेवाले प्रेक्षक की आँखें दुकान की वस्तुओं को देखते हुए नहीं अघातीं। वह व्यक्ति उस समय 'लीलावादी' है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षण में हस्तगत वस्तु के अतिरिक्त सभी वस्तुओं पर दुर्लक्ष्य रखता है और मानो वे हैं ही नहीं अर्थात् 'माया' है, ऐसा मानता है। बिना ऐसा माने काम नहीं चल सकता। चीनी दार्शनिक मेन्सियस ने कहा है कि जो व्यक्ति बहुत कार्य करने का निषेध करता है वही कुछ काम कर सकता है। (Only he who refuses to do many things can do something).

एक ही जगत् दृष्टिभेद से 'माया' और 'लीलारूप' प्रतिभासित होता है। इसीलिए एक ही मनुष्य 'मायावादी' और 'लीलावादी' हो सकता है। मायावादी शंकर ने कहा है कि जगत् सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की लीलामात्र है। [1](परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयं सर्वशक्तित्वात्') एक और उदाहरण लीजिए— उपनिषद् के ऋषियों ने संसार में मात्र आनन्द ही देखा। अनेक दुःखों के बीच भी हँसती और नाचती हुई मानव जाति को देखा और कहा कि आकाश में यदि आनन्द न होता तो कौन जी सकता, कौन श्वास ले सकता? [2]"को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" उस आनन्द को बुद्ध ने भी देखा था किन्तु उनका ध्यान विशेष रूप से उस आनन्द के अनन्तर निश्चित रूप से आनेवाले दुःख और शोक की ओर गया और उन्होंने कहा कि 'सर्वं दुःखं दुःखम्'। उन्होंने सुख की व्याख्या यह की कि 'जिसमें दुःख का मिश्रण न हो ऐसा आत्यन्तिक सुख'। यहाँ जो भेद है वह परस्पर विरोध का नहीं अपितु न्यूनाधिक्य का—तरतमभावका है। बुद्ध ने कहा कि जीवन क्षणभंगुर है और मृत्यु सर्वव्यापी है। उपनिषद् में होता आश्वल ने याज्ञवल्क्य

१—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य—२—१—३३

२—तैत्तरीयोपनिषद्—२—७

से कहा था कि यह सब मृत्यु के वश में है—मृत्यु से व्याप्त है। "इदं सर्वं मृत्युनाप्तं सर्व मृत्युनाभिपन्नम्।"[१] दूसरी ओर गाँधीजी ने कहा कि मृत्यु की अपेक्षा जीवन बलवत्तर शक्ति है। इसी से मृत्यु के बीच भी जीवन टिका हुआ है—

"Life Persists in the midsts of death." इन सब में परस्पर नितान्त विरोध नहीं है। बुद्ध ने व्यक्ति के जीवनकी ओर विशेष ध्यान देकर अपनी बात कही और गाँधीजी ने समष्टि के जीवन की ओर ध्यान देकर यही बात दूसरे रूप में कही।

साहित्य का एक उदाहरण लीजिए—कुछ वर्ष पूर्व अध्यापक रामनारायण पाठक ने लिखा था कि कान्त के 'वसन्त-विजय' काव्य में वीररस है। इसके प्रतिकार में आचार्य ध्रुव ने लिखा कि उस काव्य में करुण रस है। स्याद्वादी कहेगा कि दोनों कथन अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक हैं। अध्यापक पाठक ने पाण्डु के कामावेग के प्रतिकार के लिए किये गये संग्राम की ओर विशेष लक्ष्य रखा, इसलिए उन्हें उस काव्य में वीररस दिखाई दिया। इतना तनतोड़ प्रयास करते हुए भी मनुष्य 'भूत सम्मोहन' वसन्त में प्रवल बननेवाले मदन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता और पराजित होकर उसे मृत्यु का आलिंगन करना पड़ता है, यह कैसी विषम स्थिति है? उस काव्य के अन्त की ओर विशेष लक्ष्य रखने से आचार्य ध्रुव को ऐसा प्रतीत हुआ कि उसमें करुण रस है।

इस प्रकार विचार करने पर साहित्य के विषय में स्याद्वादी का मन्तव्य यह होगा कि 'Idealism'—आदर्शवाद और Realism—यथार्थवाद दोनों ही आवश्यक हैं। इन दोनों शब्दों की निश्चित व्याख्या साहित्य में क्या होती है, इसका मुझे पता नहीं, किन्तु मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि दुष्टतम व्यक्ति में भी भलाई का कुछ न कुछ अंश रहता है, ऐसा बतानेवाला आदर्शवाद है और बड़े से बड़े व्यक्ति में भी मानव सुलभ न्यूनता या मर्यादा होती है फिर भी उसकी महत्ता समाप्त नहीं हो सकती, ऐसा बतानेवाला यथार्थवाद है। इस दृष्टि से देखने पर रामायण और महाभारत में आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों ही हैं। निरा यथार्थवाद एडल्स हक्सली के Eyeless in Gaza नामक उपन्यास में मिलता है। उसको पढ़ने से घृणा होती है। इसीलिए लेखक ने केवल भोगासक्त व्यक्तियों को eyeless चक्षु-

---

१—बृहदारण्यकोपनिषद—३-१-३

हीन कहकर उनके जीवन के विषय में टीका की है। दूसरी ओर केवल आकाश में ही विचरनेवाले और पृथ्वी पर पाँव तक न धरनेवाले साहित्य का जगत् के लिए कोई उपयोग नहीं। साहित्य को यदि स्वर्ग तथा पृथ्वी को मिलाने वाली कड़ी का काम करना हो तो साहित्यकार को पृथ्वी के हलाहल विष को पीकर अन्तर से अमृत निकालनेवाला होना चाहिए। ऐसा माननेवालों के लिए आदर्शवाद एवं यथार्थवाद का मिश्रण ही हितकर व रुचिकर होगा।

पहले कथन के अनुसार व्यक्ति अथवा समाज जब किसी गुण की एकाग्रता से साधना करना चाहता है तो उसमें आगे चलने पर अतिशय आही जाता है। रोम की रिपब्लिक में सादगी और दृढ़ता की खूब शिक्षा दी गई, इसका परिणाम यह हुआ कि रोमन लोग शस्त्रबल में काफी आगे बढ़ गये, किन्तु विद्या और संस्कारों की दृष्टि से बहुत पीछे रह गये। दूसरी ओर ग्रीक लोग विद्या-संस्कार में काफी आगे बढ़े किन्तु युद्धकला में बहुत पीछे पड़ गये। यही कारण था कि रोमन लोगों ने उन पर विजय प्राप्त की। उनके समागम के कारण रोमन लोगों को विद्या, कला तथा संस्कार की भूख जाग्रत हुई और इसी भूख ने आगे बढ़कर विलास का रूप धारण किया। परिणाम यह हुआ कि रोमन लोग दुर्बल हो गये और इन्हें गोथ लोगों ने हराया जो कि जंगली होते हुए भी बलवान थे। इस प्रकार दो अन्तों के बीच का लोलक प्रत्येक गुण में रहता है। संयम अपनी सीमा के अन्त तक पहुँचने पर असंस्कार तथा दम्भ का रूप धारण कर लेता है। उस समय श्री मुन्शी जैसे कोई जीवन के उल्लास का उपदेश देते हैं। जब वही उल्लास बढ़ते-बढ़ते विलास का रूप धारण कर लेता है उस समय श्री मशरूवाला जैसे कोई 'चोखलिया' कहलवाने की परवाह न करते हुए संयम और 'स्त्री पुरुष मर्यादा' का आग्रहपूर्वक अनुरोध करते हैं। वस्तुतः मुन्शी सरीखों का विरोध संयम के प्रति नहीं किन्तु संयम के विकृत अतिरेक के प्रति है। वैसे ही श्री मशरूवाला का विरोध निर्दोष आनन्द तथा उल्लास के प्रति नहीं अपितु विलास में परिणत होनेवाले उल्लास के अतिरेक के प्रति है। दोनों का प्रयास 'लोलक' को अन्त की ओर से समत्व की स्थिति में लाने की ओर है। लोलक को एक छोर से हटाने के लिए जो धक्का लगाना पड़ता है वह लेखक या वक्ता के लेखन या वाणी के आवेशरूप में प्रकट होता है। एव वस्तु का विशेष भार पूर्वक प्रतिपादन करने पर दूसरी वस्तु का निरसन करने की धारणा न होते हुए भी उसका निरसन हो रहा हो, ऐसी प्रतीति होती है। यह दोष हमारी वाक्छटा का है, ऐसा इमर्सन ने कहा है—"But

1—Essay on history.

it is the fault of our rhetoric that we can not strongly state one fact without seeming to belie some other."

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि टीकाकार सदैव विरोध ही करता है, ऐसी बात नहीं है। बहुत बार वह पूर्ति करने का अथवा स्वप्रतीत अतिशय को दूर कर पुनः संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है। यदि मन में निरन्तर यह ख्याल रखा जाय तो कई निरर्थक कलह रुक सकते हैं।

आचार्य ध्रुव ने ठीक ही कहा है कि स्याद्वाद एक वाद नहीं अपितु दृष्टि है। सर्ववादों को देखने के लिए यह अंजन है अथवा यों कहिए कि चश्मा है। उन्होंने यह भी कहा है कि स्याद्वाद एक प्रकार की बौद्धिक अहिंसा है।

जीवन में अपने ही व्यक्तित्व को केन्द्र में रखकर अथवा Self centred होकर जब हम दूसरों के विषय में विचार करते हैं तब हम अपने खुद के जीवन में ही कटुता उत्पन्न करते हैं। छोटी या बड़ी बातों में अन्य की दृष्टि से अर्थात् अन्य के स्थान पर अपने को रखकर विचार करने की आदत डालने से दुर्भाव अधिकांश में कम हो जाता है। हमारी शक्ति क्रोध द्वारा क्षीण होने से बचती है और हमारी थोड़ी सी सहृदयता देखकर लोग हमारे आगे दिल खोलकर अपने सुख-दुःख का वर्णन करने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं, यह क्या कम लाभ है ?

जगत् में जो मुख्य त्रुटि है वह समझ की है। समझ के अभाव में अनेक कलह होते हैं। उस समझ को बढ़ाने की तथा कलहों को शान्त करने की शक्ति स्याद्वाद में है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

—अनुवादक—श्री मोहनलाल मेहता B. A.

मुद्रक—ओम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी ३८०६—०७

'SANMATI' PUBLICATIONS

1. **World Problems and Jain Ethics**
   by Dr. Beni Prasad — **6 Ans.**
2. **Lord Mahavira**
   by Dr. Bool Chand, M.A., Ph D. — **Rs. 4/8/**
3. विश्व-समस्या और व्रतविचार डॉ० बेनीप्रसाद — चार आने
4. **Constitution** — **4 Ans.**
5. अहिंसा की साधना —श्री काका कालेलकर — चार आने
6. परिचयपत्र और वार्षिक कार्यविवरण — चार आने
7. **Jainism in Kalingadesa Dr. Bool Chand** — **4 Ans.**
8. भगवान् महावीर— श्री दलसुखभाई मालवणिया — चार आने
9. **Mantra Shastra and Jainism-Dr. A. S. Altekar 4 Ans.**
10. जैन-संस्कृति का हृदय—पं० श्री सुखलालजी संघवी — चार आने
11. भ० महावीरका जीवन—पं० श्री सुखलालजी संघवी — ,, ,,
12. जैन तत्त्वज्ञान, जैनधर्म और नीतिवाद — ,, ,,
    ले०-पं० श्री सुखलालजी तथा डॉ० राजबलि पाण्डेय
13. आगमयुग का अनेकान्तवाद-श्री दलसुखभाई मालवणिया — आठ आने

4-15. निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय —श्री सुखलालजी संघवी — एक रुपया

16. वस्तुपाल का विद्यामण्डल—प्रो० भोगीलाल सांडेसरा — आठ आने
17. जैन आगम—श्री दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य दस आने
18. कार्यप्रवृत्ति और कार्यदिशा — आठ आने
19. गांधीजी और धर्म
    ले० पं० श्री सुखलालजी और दलसुख मालवणिया — दस आने
20. अनेकान्तवाद—पं० श्री सुखलालजी संघवी — बारह आने
21. जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन
    पं० दलसुखभाई मालवणिया — दस आने
22. राजर्षि कुमारपाल-मुनि श्री जिनविजयजी — आठ आने
23. जैनधर्म का प्राण- श्री सुखलालजी संघवी — छः आने

जैन संस्कृति संशोधन मंडल

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटीः बनारस

...ss Printed at Sharda Mudranalaya, Panchor naka, Ahmedabad.

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

पत्रिका नं० २०

अनेकान्तवाद

[व्यावहारिक और तात्त्विक]

लेखक

पं० श्री सुखलालजी संघवी

'सच्चं लोगम्मि सारभूयं'

'TRUTH ALONE MATTERS'

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY

PARSHVANATH VIDYASHRAMA

P. O. Benares Hindu University.

Annas Twelve

निवेदन ।

अनेकान्तवाद यह भारतीय दर्शन में जैनोंकी एक विशिष्ट देन है। किन्तु इसके क्षेत्र और स्वरूपके विषयमें उतना ही अज्ञान है। यही कारण है कि अनेकान्तवाद जैसे समन्वयकारी सिद्धान्तके होते हुए भी जैन आपसमें अपना मतभेद मिटानेमें समर्थ नहीं होते और शंकराचार्य जैसे भूतकालीन जैनेतर दार्शनिक और आधुनिक विद्वान् लोग अनेकान्तवादके विषयमें विना समझे आक्षेप करते रहते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि लोगोंको यह बताया जाय कि अनेकान्तवाद का क्षेत्र कितना व्यापक है—वह जीवनके आचार और विचार, व्यवहार और तत्त्वचिन्तन दोनों को व्याप्त कर लेता है। उसके विषय में अभ्रान्त विवेचना करके यह बताना जरूरी है कि भारतीय दर्शनों की परस्पर विरोधी ऐसी भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का सयुक्तिक समन्वय ही अनेकान्तवाद नहीं करता है किन्तु लौकिक जीवनकी अनेक गुत्थियोंको सुलझानेकी भी वह क्षमता रखता है। इसी दृष्टिको सामने रखकर प्रस्तुत पत्रिकामें पण्डित श्री सुखलालजीके तीन लेखोंका संग्रह किया है। 'अनेकान्तवादकी मर्यादा' यह लेख यहां 'अनेकान्त' मासिकसे साभार उद्धृत है। उसमें अनेकान्तवाद क्या है और उसका क्षेत्र सिर्फ़ दर्शन ही नहीं किन्तु जीवन भी है यह प्रतिपादित किया गया है। दूसरे लेख 'जीवित–अनेकान्त' का मुख्य प्रयोजन हमारे व्यावहारिक जीवनकी समस्याओंको अनेकान्तके सहारे कैसे सुलझाया जा सकता है यह बताना है। यह लेख पण्डितजी ने मूल गूजराती में महावीर विद्यालय के रजत जयन्ती स्मारक के लिये लिखा था वह यहां हिन्दी में साभार उद्धृत है। तीसरा लेख 'अनेकान्तवाद' यह भारतीय दर्शनों की परस्पर विरोधी चिन्तन-धाराओं का किस प्रकार सुन्दर समन्वय अनेकान्तवाद के द्वारा होता है उसको तात्त्विक विवेचना से परिपूर्ण है। यह लेख पण्डितजी की प्रमाणमीमांसा की प्रस्तावना से साभार उद्धृत है। इस प्रकार तीनों लेखोंमें वाचक को जीवन और दर्शनमें अनेकान्तवाद कितना अपरिहार्य है इस बात की सयुक्तिक विवेचना मिलेगी।

दलसुख मालवणिया।

अनेकान्तवाद की मर्यादा।

जैनधर्म का मूल—

कोई भी विशिष्ट दर्शन हो या धर्म पन्थ, उसकी आधारभूत—उसके मूल प्रवर्तक पुरुष की—एक खास दृष्टि होती है; जैसे कि—शंकराचार्य की अपने मतनिरूपण में 'अद्वैतदृष्टि' और भगवान् बुद्ध की अपने धर्म-पन्थ प्रवर्तन में 'मध्यम प्रतिपदा दृष्टि' खास दृष्टि है। जैनदर्शन भारतीय दर्शनों में एक विशिष्ट दर्शन है और साथ ही एक विशिष्ट धर्म-पन्थ भी है, इसलिए उसके प्रवर्तक और प्रचारक मुख्य पुरुषों की एक खास दृष्टि उसके मूलमें होनी ही चाहिए और वह है भी। यही दृष्टि अनेकान्तवाद है। तात्त्विक जैन-विचारणा अथवा आचार-व्यवहार कुछ भी हो वह सब अनेकान्त-दृष्टि के आधार पर किया जाता है और उसी के आधार पर सारी विचार धारा चलती है। अथवा यों कहिये कि अनेक प्रकार के विचारों तथा आचारों में से जैन विचार और जैनाचार क्या हैं? कैसे हो सकते हैं? इन्हें निश्चित करने वा कसने की एक मात्र कसौटी भी अनेकान्त दृष्टि ही है।

अनेकान्त का विकास और उसका श्रेय—

जैन-दर्शन का आधुनिक मूल-रूप भगवान् महावीर की तपस्या का फल है। इसलिए सामान्य रूप से यही समझा जा सकता है कि जैन-दर्शन की आधार भूत अनेकान्त-दृष्टि भी भगवान् महावीर के द्वारा ही पहले पहल स्थिर की गई या उद्भावित की गई होगी। परन्तु विचार के विकास क्रम और पुरातन इतिहास के चिंतन करने से साफ मालूम पड़ जाता है कि अनेकान्त दृष्टि का मूल भगवान् महावीर से भी पुराना है। यह ठीक है कि जैन-साहित्य में अनेकान्त-दृष्टि का जो स्वरूप आजकल व्यवस्थित रूप से और विकसित रूप से मिलता है वह स्वरूप भगवान् महावीर के पूर्व-वर्ती किसी जैन या जैनतर साहित्य में नहीं पाया जाता, तो भी भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती वैदिक-साहित्य में और उसके समकालीन बौद्ध-साहित्य में अनेकान्त दृष्टि-गर्भित बिखरे हुए विचार थोड़े बहुत मिल ही जाते हैं। इसके सिवाय भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ हुए हैं जिनका विचार आज यद्यपि उन्हीं के शब्दों में—असल रूप में नहीं पाया जाता

फिर भी उन्होंने अनेकान्त-दृष्टि का स्वरूप स्थिर करने में अथवा उसके विकास में कुछ न कुछ भाग जरूर लिया है, ऐसा पाया जाता है। यह सब होते हुए भी उपलब्ध-साहित्य का इतिहास स्पष्टरूप से यही कहता है कि २५०० वर्ष के भारतीय साहित्य में जो अनेकान्त-दृष्टि का थोड़ा बहुत असर है या खास तौर से जैन-वाङ्मय में अनेकान्त-दृष्टि का उत्थान होकर क्रमशः विकास होता गया है और जिसे दूसरे समकालीन दार्शनिक विद्वानों ने अपने अपने ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में अपनाया है उसका मुख्य श्रेय तो भगवान् महावीर को ही है; क्योंकि जब हम आज देखते हैं तो उपलब्ध जैन-प्राचीन ग्रंथों में अनेकान्त-दृष्टि की विचार-धारा जिस स्पष्ट रूप में पाते हैं उस स्पष्ट रूप में उसे और किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं पाते।

नालंदा के प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठ के आचार्य शान्तरक्षित अपने 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थ में अनेकान्तवाद का परीक्षण करते हुए कहते हैं कि विप्र—मीमांसक, निर्ग्रन्थ-जैन और कापिल—सांख्य इन तीनों का अनेकान्तवाद समान रूपसे खण्डित हो जाता है। इस कथन से यह पाया जाता है कि सातवीं आठवीं सदी के बौद्ध आदि विद्वान् अनेकान्तवाद को केवल जैन-दर्शन का ही वाद न समझते थे किन्तु यह मानते थे कि मीमांसक, जैन और सांख्य तीनों दर्शनों में अनेकान्तवाद का आश्रयण है और ऐसा मानकर ही वे अनेकान्तवाद का खण्डन करते थे। हम जब मीमांसक दर्शन के श्लोकवार्तिक आदि और सांख्य-योगदर्शन के परिणामवाद स्थापक प्राचीन-ग्रन्थ देखते हैं तो निस्सन्देह यह जान पड़ता है कि उन ग्रन्थों में भी जैन-ग्रन्थों की तरह अनेकान्त-दृष्टि मूलक विचारणा है। अतएव शान्तरक्षित जैसे विविध दर्शनाभ्यासी विद्वान् के इस कथन में हमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि मीमांसक, जैन और कापिल तीनों दर्शनों में अनेकान्तवाद का अवलम्बन है। परन्तु शान्तरक्षित के कथन को मान कर और मीमांसक तथा सांख्य-योग दर्शन के ग्रन्थों को देखकर भी एक बात तो कहनी ही पड़ती है कि यद्यपि अनेकान्त-दृष्टि मीमांसक और सांख्य योग-दर्शन में भी है तथापि वह जैन-दर्शन के ग्रन्थों की तरह अति स्पष्टरूप और अतिव्यापकरूप में उन दर्शनों के ग्रन्थों में नहीं पाई जाती। जैन-विचारकों ने जितना जोर और जितना पुरुषार्थ अनेकान्त दृष्टि के निरूपण में लगाया है, उसका शतांश भी किसी दर्शन के विद्वानों ने नहीं लगाया। यही कारण है कि आज जब कोई 'अनेकान्तवाद' या 'स्याद्वाद' शब्द का उच्चारण करता है तब सुनने वाला विद्वान् उससे सहसा जैन-दर्शन का ही भाव ग्रहण करता है। आजकल के बड़े बड़े विद्वान् तक भी यही समझते हैं कि

'स्याद्वाद' यह तो जैनों का ही एक वाद है। इस समझ का कारण है कि जैन विद्वानों ने स्याद्वाद के निरूपण और समर्थन में बहुत बड़े बड़े ग्रन्थ लिख डाले हैं, अनेक युक्तियों का आविर्भाव किया है और अनेकान्तवाद के शस्त्र के बल से ही उन्होंने दूसरे दार्शनिक विद्वानों के साथ कुश्ती की है।

इस चर्चा से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि भगवान् महावीर ने अपने उपदेशों में अनेकान्तवाद का जैसा स्पष्ट आश्रय लिया है वैसा उनके समकालीन और पूर्ववर्ती दर्शन प्रवर्तकों में से किसी ने भी नहीं लिया है। दूसरी बात यह कि भगवान् महावीर के अनुयायी जैन आचार्यों ने अनेकान्त दृष्टि के निरूपण और समर्थन करने में जितनी शक्ति लगाई है उतनी और किसी भी दर्शन के अनुगामी आचार्यों ने नहीं लगाई।

अनेकान्तदृष्टि के मूल तत्त्व—

जब सारे जैन विचार और आचार की नींव अनेकान्त दृष्टि ही है तब पहले यह देखना चाहिए कि अनेकान्त दृष्टि किन तत्त्वों के आधार पर खड़ी की गई है? विचार करने और अनेकान्त दृष्टि के साहित्य का अवलोकन करने से मालूम होता है कि अनेकान्त दृष्टि सत्य पर खड़ी है। यद्यपि सभी महान् पुरुष सत्य को पसन्द करते है और सत्य की ही खोज तथा सत्य के ही निरूपण में अपना जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि सत्य निरूपण की पद्धति और सत्य की खोज सब की एक सी नहीं होती। बुद्धदेव जिस शैली से सत्य का निरूपण करते हैं या शंकराचार्य उपनिषदों के आधार पर जिस ढंग से सत्य का प्रकाशन करते हैं उससे भ० महावीर की सत्य प्रकाशन की शैली जुदा है। भ० महावीर की सत्य प्रकाशन शैली का ही दूसरा नाम 'अनेकान्तवाद' है। उसके मूल में दो तत्त्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत होता है वही सत्य कहलाता है।

अनेकान्त की खोज का उद्देश्य और उसके प्रकाशन की शर्तें—

वस्तु का पूर्ण रूप में त्रिकालाबाधित—यथार्थ दर्शन होना कठिन है, किसी को वह हो भी जाय तथापि उसका उसी रूप में शब्दों के द्वारा ठीक ठीक कथन करना उस सत्यद्रष्टा और सत्यवादी के लिए भी बड़ा कठिन है। कोई उस कठिन काम को किसी अंश में करने वाले निकल भी आएँ तो भी देश, काल, परिस्थिति, भाषा और शैली आदि के अनिवार्य भेद के कारण उन सब के कथन में कुछ न कुछ

विरोध या भेद का दिखाई देना अनिवार्य है। यह तो हुई उन पूर्णदर्शी और सत्यवादी इनेगिने मनुष्यों की बात, जिन्हें हम सिर्फ कल्पना या अनुमान से समझ या मान सकते हैं। हमारा अनुभव तो साधारण मनुष्यों तक परिमित है और वह कहता है कि साधारण मनुष्यों में भी बहुत से यथार्थवादी होकर भी अपूर्ण दर्शी होते हैं। ऐसी स्थिति में यथार्थवादिता होने पर भी अपूर्ण दर्शन के कारण और उसे प्रकाशित करने की अपूर्ण सामग्री के कारण सत्यप्रिय मनुष्यों की भी समझ में कभी कभी भेद आ जाता है और संस्कार भेद उनमें और भी पारस्परिक टक्कर पैदा कर देता है। इस तरह पूर्णदर्शी और अपूर्णदर्शी सभी सत्यवादियों के द्वारा अन्त में भेद और विरोध की सामग्री आप ही आप प्रस्तुत हो जाती है या दूसरे लोग उनसे ऐसी सामग्री पैदा कर लेते हैं।

ऐसी वस्तुस्थिति देख कर भ० महावीर ने सोचा कि ऐसा कौन सा रास्ता निकाला जाय जिससे वस्तु का पूर्ण या अपूर्ण सत्यदर्शन करने वाले के साथ अन्याय न हो। अपूर्ण और अपने से विरोधी होकर भी यदि दूसरे का दर्शन सत्य है, इसी तरह अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी यदि अपना दर्शन सत्य है तो दोनों को ही न्याय मिले, इसका भी क्या उपाय है? इसी चिंतनप्रधान तपस्या ने भगवान् को अनेकान्तदृष्टि सुझाई, उनका सत्य संशोधन का संकल्प सिद्ध हुआ। उन्होंने उस मिली हुई अनेकान्तदृष्टि की चावी से वैयक्तिक और सामष्टिक जीवन की व्यावहारिक और पारमार्थिक समस्याओं के ताले खोल दिये और समाधान प्राप्त किया। तब उन्होंने जीवनोपयोगी विचार और आचार का निर्माण करते समय उस अनेकान्त दृष्टि को निम्नलिखित मुख्य शर्तों पर प्रकाशित किया और उसके अनुसरण का अपने जीवन द्वारा उन्हीं शर्तों पर उपदेश दिया। वे शर्तें इस प्रकार हैं—

१—राग और द्वेषजन्य संस्कारों के वशीभूत न होना अर्थात् तेजस्वी मध्यस्थ भाव रखना।

२—जब तक मध्यस्थ भावका पूर्ण विकास न हो तब तक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा रखना।

३—कैसे भी विरोधी भासमान पक्ष से न घबराना और अपने पक्ष की तरह उस पक्ष पर भी आदरपूर्वक विचार करना तथा अपने पक्ष पर भी विरोधी पक्ष की तरह तीव्र समालोचक दृष्टि रखना।

४—अपने तथा दूसरों के अनुभवों में से जो जो अंश ठीक जँचें—चाहें वे

विरोधी ही प्रतीत क्यों न हों-उन सबका विवेक—प्रज्ञा से समन्वय करने की उदारता का अभ्यास करना और अनुभव बढ़ने पर पूर्व के समन्वय में जहां ग़लती मालूम हो वहां मिथ्याभिमान छोड़ कर सुधार करना और इसी क्रम से आगे बढ़ना।

अनेकान्त साहित्य का विकास—

भगवान् महावीर ने अनेकान्त दृष्टि को पहले अपने जीवन में उतारा था और उसके बाद ही दूसरों को इसका उपदेश दिया था। इसलिए अनेकान्त दृष्टि की स्थापना और प्रचार के निमित्त उनके पास काफ़ी अनुभव बल और तपोबल था। अतएव उनके मूल उपदेश में से जो कुछ प्राचीन अवशेष आजकल पाये जाते हैं उन आगमग्रन्थों में हम अनेकान्त दृष्टि को स्पष्टरूप से पाते हैं सही, पर उसमें तर्कवाद या खण्डनमण्डन का वह जटिल जाल नहीं पाते जो कि पिछले साहित्य में देखने में आता है। हमें उन आगम ग्रन्थों में अनेकान्त दृष्टि का सरलस्वरूप और संक्षिप्त विभाग ही नज़र आता है। परन्तु भगवान् के बाद जब उनकी दृष्टि पर संप्रदाय कायम हुआ और उसका अनुगामी समाज स्थिर हुआ तथा बढ़ने लगा, तब चारों ओर से अनेकान्त दृष्टि पर हमले होने लगे। महावीर के अनुगामी आचार्यों में त्याग और प्रज्ञा होने पर भी, महावीर जैसा स्पष्ट जीवन का अनुभव और तप न था। इसलिए उन्होंने उन हमलों से बचने के लिए नैयायिक गौतम और वात्स्यायन के कथन की तरह वादकथा के उपरान्त जल्प और कहीं कहीं वितण्डा का भी आश्रय लिया है। अनेकान्त दृष्टि का जो तत्त्व उनको विरासत में मिला था उसके संरक्षण के लिए उन्होंने जैसे बन पड़ा वैसे कभी वाद किया, कभी जल्प और कभी वितण्डा। परन्तु इसके साथ ही साथ उन्होंने अनेकान्त दृष्टि को निर्दोष स्थापित करके उसका विद्वानों में प्रचार भी करना चाहा और इस चाहजनित प्रयत्न से उन्होंने अनेकान्त दृष्टि के अनेक मर्मों को प्रकट किया और उनकी उपयोगिता स्थापित की। इस खण्डन मण्डन, स्थापन और प्रचार के करीब दो हज़ार वर्षों में महावीर के शिष्यों ने सिर्फ़ अनेकान्तदृष्टि विषयक इतना बड़ा ग्रन्थ समूह बना डाला है कि उसका एक खासा पुस्तकालय बन सकता है। पूर्व-पश्चिम और दक्खिन-उत्तर हिन्दुस्थान के सब भागों में सब समयों में उत्पन्न होने वाले अनेक छोटे बड़े और प्रचण्ड आचार्यों ने अनेक भाषाओं में केवल अनेकान्तदृष्टि और उसमें से फलित होने वाले वादों पर दण्डकारण्य से भी कहीं विस्तृत, सूक्ष्म और जटिल चर्चा की है। शुरू में जो साहित्य अनेकान्तदृष्टि के अवलम्बन से निर्मित हुआ था उसके स्थान पर पिछला

साहित्य, खास कर तार्किक साहित्य–मुख्यतया अनेकान्तदृष्टि के निरूपण तथा उसके ऊपर अन्य वादियों के द्वारा किये गये आक्षेपों के निराकरण करने के लिए रचा गया। इस तरह संप्रदाय की रक्षा और प्रचार की भावना में से जो केवल अनेकान्त विषयक साहित्य का विकास हुआ है उसका वर्णन करने के लिए एक खासी जुदी पुस्तिका की जरूरत है। तथापि इतना तो यहां निर्देश कर देना ही चाहिए कि समन्तभद्र और सिद्धसेन, हरिभद्र और अकलङ्क, विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र, अभयदेव और वादिदेवसूरि तथा हेमचन्द्र और यशोविजयजी जैसे प्रकाण्ड विचारको ने जो अनेकान्तदृष्टि के बारे में लिखा है वह भारतीय दर्शन-साहित्य में बड़ा महत्त्व रखता है और विचारकों को उनके ग्रन्थों में से मनन करने योग्य बहुत कुछ सामग्री मिल सकती है।

फलितवाद–

अनेकान्तदृष्टि तो एक मूल है, उसके ऊपर से और उसके आश्रय पर–विविध-वादों तथा चर्चाओं का शाखाप्रशाखाओं की तरह बहुत बड़ा विस्तार हुआ है। उसमें से मुख्य दो वाद यहां उल्लिखित किये जाने योग्य हैं–एक नयवाद और दूसरा सप्तभंगीवाद। अनेकान्तदृष्टि का आविर्भाव आध्यात्मिक साधना और दार्शनिक प्रदेश में हुआ इसलिए उसका उपयोग भी पहले पहल वहीं होना अनिवार्य था। भगवान के इर्दगिर्द और उनके अनुयायी आचार्यों के समीप जो जो विचार-धाराएँ चल रही थीं उनका समन्वय करना अनेकान्तदृष्टि के लिए आवश्यक था। इसी प्राप्त कार्य में से 'नयवाद' की सृष्टि हुई। यद्यपि किसी किसी नय के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उदाहरणों में भारतीय दर्शन के विकास के अनुसार विकास होता गया है। तथापि दर्शन प्रदेश में से उत्पन्न होने वाले नयवाद की उदाहरणमाला भी आज तक दार्शनिक ही रही है। प्रत्येक नय की व्याख्या और चर्चा का विकास हुआ है पर उसकी उदाहरण माला तो दार्शनिकक्षेत्र के बाहर से आई ही नहीं। यही एक बात यह समझाने के लिए पर्याप्त है कि सब क्षेत्रों को व्याप्त करने की ताक़त रखने वाले अनेकान्त का प्रथम आविर्भाव किस क्षेत्र में हुआ और हज़ारों वर्षों के बाद तक भी उसकी चर्चा किस क्षेत्र तक परिमित रही?

भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन के अतिरिक्त, उस समय जो दर्शन अति प्रसिद्ध थे और पीछे से जो अति प्रसिद्ध हुए उनमें वैशेषिक, न्याय, सांख्य, औपनिषद–वेदान्त, बौद्ध और शाब्दिक–ये ही दर्शन मुख्य हैं। इन प्रसिद्ध दर्शनों को पूर्ण सत्य मानने में वस्तुतः तात्त्विक और व्यावहारिक दोनों आपत्तियां थीं और उन्हें

बिलकुल असत्य कह देने में सत्य का घात था इसलिए उनके बीच में रहकर उन्हीं में से सत्य के गवेषण का मार्ग सरल रूप में लोगों के सामने प्रदर्शित करना था। यही कारण है कि हम उपलब्ध समग्र जैन-वाङ्मय में नयवाद के भेद-प्रभेद और उनके उदाहरण तक उक्त दर्शनों के रूप में तथा उनकी विकसित शाखाओं के रूप में ही पाते हैं। विचार की जितनी पद्धतियां उस समय मौजूद थीं, उनके समन्वय करने का आदेश—अनेकान्तदृष्टि ने किया और उसमें से नयवाद फलित हुआ जिससे कि दार्शनिक मारामारी कम हो; पर दूसरी तरफ एक-एक वाक्य पर अधैर्य और नासमझी के कारण पण्डित-गण लड़ा करते थे। एक पण्डित यदि किसी चीज को नित्य कहता तो दूसरा सामने खड़ा होकर यह कहता कि वह तो अनित्य है, नित्य नहीं। इसी तरह फिर पहला पण्डित दूसरे के विरुद्ध बोल उठता था। सिर्फ नित्यत्व के विषय में ही नहीं किन्तु प्रत्येक अंश में यह झगड़ा जहां तहां होता ही रहता था। यह स्थिति देखकर अनेकान्त-दृष्टि वाले तत्कालीन आचार्यों ने उस झगड़े का अन्त अनेकान्त-दृष्टि के द्वारा करना चाहा और उस प्रयत्न के परिणाम स्वरूप 'सप्तभङ्गीवाद' फलित हुआ। अनेकान्त-दृष्टि के प्रथम फलस्वरूप नयवाद में तो दर्शनों को स्थान मिला है और उसी के दूसरे फलस्वरूप सप्तभङ्गीवाद में किसी एक ही वस्तुके विषय में प्रचलित विरोधी कथनों को या विचारों को स्थान मिला है। पहले वाद में समूचे सब दर्शन संगृहीत हैं और दूसरे में दर्शन के विशकलित मन्तव्यों का समन्वय है। प्रत्येक फलितवाद की सूक्ष्म चर्चा और उसके इतिहास के लिए यहां स्थान नहीं है और न उतना अवकाश ही है तथापि इतना कह देना जरूरी है कि अनेकान्त-दृष्टि ही महावीर की मूल दृष्टि और स्वतन्त्र दृष्टि है। नयवाद तथा सप्तभङ्गीवाद आदि तो उस दृष्टि के ऐतिहासिक परिस्थिति—अनुसारी प्रासंगिक फल मात्र हैं। अतएव नय तथा सप्तभङ्गी आदि वादों का स्वरूप तथा उनके उदाहरण बदले भी जा सकते हैं, पर अनेकान्त-दृष्टि का स्वरूप तो एक ही प्रकार का रह सकता है—भले ही उसके उदाहरण बदल जायँ।

अनेकान्तदृष्टि का असर—

जब दूसरे विद्वानों ने अनेकान्त-दृष्टि को तत्त्वरूप में ग्रहण करने की जगह सांप्रदायिकवाद रूप में ग्रहण किया तब उसके ऊपर चारों ओर से आक्षेपों के प्रहार होने लगे। बादरायण जैसे सूत्रकारों ने उसके खण्डन के लिए सूत्र रच डाले और उन सूत्रों के भाष्यकारों ने उसी विषय में अपने भाष्यों की रचनाएँ कीं।

वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शांतरक्षित जैसे बड़े बड़े प्रभावशाली बौद्ध विद्वानों ने भी अनेकान्तवाद की पूरी खबर ली। इधर से जैन विचारक विद्वानों ने भी उनका सामना किया। इस प्रचण्ड संघर्ष का अनिवार्य परिणाम यह आया कि एक ओर से अनेकान्त-दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ और दूसरी ओर से उसका प्रभाव दूसरे विरोधी सांप्रदायिक विद्वानों पर भी पड़ा। दक्षिण हिन्दुस्तान में प्रचण्ड दिगम्बराचार्यों और प्रकाण्ड मीमांसक तथा वेदान्त विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ की कुश्ती हुई उससे अन्त में अनेकान्त-दृष्टि का ही असर अधिक फैला। यहाँ तक कि रामानुज जैसे बिलकुल जैनत्व विरोधी प्रखर आचार्य ने शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध अपना मत स्थापित करते समय आश्रय तो सामान्य उपनिषदों का लिया पर उनमें से विशिष्टाद्वैत का निरूपण करते समय अनेकान्त-दृष्टि का उपयोग किया, अथवा यों कहिये कि रामानुज ने अपने ढंग से अनेकान्त-दृष्टि को विशिष्टाद्वैत की घटना में परिणत किया और औपनिषद तत्त्व-का जामा पहना कर अनेकान्त दृष्टि में से विशिष्टाद्वैतवाद खड़ा करके अनेकान्त दृष्टि की ओर आकर्षित जनता को वेदान्त मार्ग पर स्थिर रखा। पुष्टि-मार्ग के पुरस्कर्ता वल्लभ जो दक्षिण हिन्दुस्तान में हुए, उनके शुद्धाद्वैत-विषयक सब तत्त्व हैं तो औपनिषदिक पर उनकी सारी विचारसरणी अनेकान्तदृष्टि का नया वेदान्तीय स्वांग है। इधर उत्तर और पश्चिम हिन्दुस्तान में जो दूसरे विद्वानों के साथ श्वेताम्बरीय महान् विद्वानों का खण्डनमण्डन-विषयक द्वन्द्व हुआ उसके फल स्वरूप अनेकान्तवाद का असर जनता में फैला और सांप्रदायिक ढंग से अने-कान्तवाद का विरोध करने वाले भी जानते अनजानते अनेकान्तदृष्टि को अपनाने लगे। इस तरह वाद रूप में अनेकान्तदृष्टि आज तक जैनों की ही बनी हुई है तथापि उसका असर किसी न किसी रूप में अहिंसा की तरह विकृत या अर्ध-विकृत रूप में हिन्दुस्तान के हरएक भाग में फैला हुआ है। इसका सबूत सब भागों के साहित्य में से मिल सकता है।

व्यवहार में अनेकान्त का उपयोग न होने का नतीजा—

जिस समय राजकीय उलट फेर का अनिष्ट परिणाम स्थायीरूप से ध्यान में आया न था, सामाजिक बुराइयाँ आज की तरह असह्यरूप में खटकती न थीं, औद्योगिक और खेती की स्थिति आज के जैसी अस्तव्यस्त हुई न थी, समझ-पूर्वक या बिना समझे लोग एक तरह से अपनी स्थिति में संतुष्टप्राय थे और असंतोष का दावानल आज की तरह व्याप्त न था, उस समय आध्यात्मिकसाधना

में से आविर्भूत अनेकान्तदृष्टि केवल दार्शनिक प्रदेश में रही और सिर्फ चर्चा तथा वादविवाद का विषय बन कर जीवन से अलग रह कर भी उसने अपना अस्तित्व कायम रखा, कुछ प्रतिष्ठा भी पाई, यह सब उस समय के योग्य था। परन्तु आज स्थिति बिलकुल बदल गई है; दुनिया के किसी भी धर्म का तत्त्व कैसा ही गंभीर क्यों न हो, पर अब वह यदि उस धर्म की संस्थाओं तक या उसके पण्डितों तथा धर्मगुरुओं के प्रवचनों तक ही परिमित रहेगा तो इस वैज्ञानिक प्रभाव वाले जगत में उसकी क़दर पुरानी क़ब्र से अधिक नहीं होगी। अनेकान्त-दृष्टि और उसकी आधारभूत अहिंसा—ये दोनों तत्त्व महान् से महान् हैं, उनका प्रभाव तथा प्रतिष्ठा जमाने में जैन सम्प्रदाय का बड़ा भारी हिस्सा भी है पर इस बीसवीं सदी के विषम राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन में उन तत्त्वों से यदि कोई खास फायदा न पहुँचे तो मंदिर, मठ और उपाश्रयों में हजारों पण्डितों के द्वारा चिल्लाहट मचाये जाने पर भी उन्हें कोई पूछेगा नहीं, यह निःसंशय बात है। जैनलिंगधारी सैकड़ों धर्मगुरु और सैकड़ों पंडित अनेकान्त के बाल की खाल दिन रात निकालते रहते हैं और अहिंसा की सूक्ष्म चर्चा में खून सुखाते तथा सिर तक फ़ोड़ा करते हैं, तथापि लोग अपनी स्थिति के समाधान के लिए उनके पास नहीं फटकते। कोई जवान उनके पास पहुँच भी जाता है तो वह तुरन्त उनसे पूछ बैठता है कि "आप के पास जब समाधानकारी अनेकान्त दृष्टि और अहिंसा तत्त्व मौजूद हैं तब आप लोग आपस में ही गैरों की तरह बात बात में क्यों टकराते हैं? मंदिर के लिए, तीर्थ के लिए, धार्मिक प्रथाओं के लिए, सामाजिक रीति रिवाजों के लिए—यहां तक कि वेश रखना, कैसा रखना, हाथ में क्या पकड़ना, कैसे पकड़ना इत्यादि बालसुलभ बातों के लिए—आप लोग क्यों आपस में लड़ते हैं? क्या आप का अनेकान्तवाद ऐसे विषयों में कोई मार्ग निकाल नहीं सकता? क्या आप के अनेकान्तवाद में और अहिंसा तत्त्व में प्रीविकाउन्सिल, हाईकोर्ट अथवा मामूली अदालत जितनी भी समाधानकारक शक्ति नहीं है? क्या हमारी राजकीय तथा सामाजिक उलझनों को सुलझाने का सामर्थ्य आप के इन दोनों तत्त्वों में नहीं है? यदि इन सब प्रश्नों का अच्छा समाधानकारक उत्तर आप असली तौर से 'हाँ' में नहीं दे सकते तो आप के पास आकर हम क्या करेंगे? हमारे जीवन में तो पद पद पर अनेक कठि-नाइयाँ आती रहती हैं उन्हें हल किये बिना यदि हम हाथ में पोथियाँ लेकर कथंचित् एकानेक, कथंचित् भेदाभेद और कथंचित् नित्यानित्य के खाली नारे लगाया करें तो इससे हमें क्या लाभ पहुँचेगा? अथवा हमारे व्यावहारिक तथा

आध्यात्मिक जीवन में क्या फ़र्क पड़ेगा ?" और यह सब पूछना है भी ठीक, जिसका उत्तर देना उनके लिए असंभव हो जाता है।

इस में सन्देह नहीं कि अहिंसा और अनेकान्त की चर्चावाली पोथियों की, उन पोथीवाले भण्डारों की, उनके रचनेवालों के नामों की तथा उनके रचने के स्थानों की इतनी अधिक पूजा होती है कि उसमें सिर्फ़ फूलों का ही नहीं किन्तु सोने-चाँदी तथा जवाहरात तक का ढेर लग जाता है तो भी उस पूजा के करने तथा करानेवालों का जीवन दूसरों जैसा प्रायः पामर ही नज़र आता है और दूसरी तरफ़ हम देखते हैं तो यह स्पष्ट नजर आता है कि गांधीजी के अहिंसा तत्त्व की ओर सारी दुनिया देख रही है और उनके समन्वयशील व्यवहार के कायल उनके प्रतिपक्षी तक हो रहे हैं। महावीर की अहिंसा और अनेकान्तदृष्टि की डौंडी पीटने वालों की ओर कोई धीमान् आंख उठा कर देखता तक नहीं और गांधीजी की तरफ सारा विचारक-वर्ग ध्यान दे रहा है। इस अंतर का कारण क्या है ? इस सवाल के उत्तर में सब कुछ आजाता है।

अब कैसा उपयोग होना चाहिए ?

अनेकान्त दृष्टि यदि आध्यात्मिक मार्ग में सफल हो सकती है और अहिंसा का सिद्धान्त यदि आध्यात्मिक कल्याणसाधक हो सकता है तो यह भी मानना चाहिए कि ये दोनों तत्त्व व्यावहारिक जीवन का श्रेय अवश्य कर सकते हैं; क्योंकि जीवन व्यावहारिक हो या आध्यात्मिक-पर उसकी शुद्धि के स्वरूप में भिन्नता हो ही नहीं सकती और हम यह मानते हैं कि जीवन की शुद्धि अनेकान्तदृष्टि और अहिंसा के सिवाय अन्य प्रकार से हो ही नहीं सकती। इसलिए हमें जीवन व्यावहारिक या आध्यात्मिक कैसा ही पसंद क्यों न हो पर यदि उसे उन्नत बनाना इष्ट है तो उस जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनेकान्तदृष्टि को तथा अहिंसा तत्त्व को प्रज्ञापूर्वक लागू करना ही चाहिए। जो लोग व्यावहारिक जीवन में इन दो तत्वों का प्रयोग करना शक्य नहीं समझते उन्हें सिर्फ़ आध्यात्मिक कहलाने वाले जीवन को धारण करना चाहिए। इस दलील के फलस्वरूप अन्तिम प्रश्न यही होता है कि तब इस समय इन दोनों तत्वों का उपयोग व्यावहारिक जीवन में कैसे किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देना ही अनेकान्तवाद की मर्यादा है।

जैन समाज के व्यावहारिक जीवन की कुछ समस्याएँ ये हैं:—

१—समग्र विश्व के साथ जैन धर्म का अमली मेल कितना और किस प्रकार का हो सकता है?

२—राष्ट्रीय आपत्ति और संपत्ति के समय जैन धर्म कैसा व्यवहार रखने की इजाजत देता है?

३—सामाजिक और सांप्रदायिक भेदों तथा फूटों को मिटाने की कितनी शक्ति जैन धर्म में है?

यदि इन समस्याओं को हल करने के लिए अनेकान्तदृष्टि तथा अहिंसा का उपयोग हो सकता है तो वही उपयोग इन दोनों तत्वों की प्राणपूजा है और यदि ऐसा उपयोग न किया जासके तो इन दोनों की पूजा सिर्फ़ पाषाणपूजा या शब्दपूजा मात्र होगी। परन्तु मैंने जहाँ तक गहरा विचार किया है उससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उक्त तीनों का ही नहीं किन्तु दूसरी भी वैसी सब समस्याओं का व्यावहारिक समाधान, यदि प्रज्ञा है तो अनेकान्तदृष्टि के द्वारा तथा अहिंसा के सिद्धान्त के द्वारा पूरे तौर से किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर जैनधर्म प्रवृत्ति मार्ग है या निवृत्ति मार्ग? इस प्रश्न का उत्तर, अनेकान्तदृष्टि की योजना करके, यों दिया जा सकता है—"जैन धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति उभय मार्गावलम्बी है। प्रत्येक क्षेत्र में जहाँ सेवा का प्रसंग हो वहाँ अर्पण की प्रवृत्ति का आदेश करने के कारण जैन धर्म प्रवृत्तिगामी है और जहाँ भोग-वृत्ति का प्रसंग हो वहाँ निवृत्ति का आदेश करने के कारण निवृत्तिगामी भी है।" परन्तु जैसा आज कल देखा जाता है, भोग में-अर्थात् दूसरों से सुविधाग्रहण करने में-प्रवृत्ति करना और योग में-अर्थात् दूसरों को अपनी सुविधा देने में—निवृत्ति धारण करना, यह अनेकान्त तथा अहिंसा का विकृतरूप अथवा उनका स्पष्ट भंग है। श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय झगड़ों में से कुछ को लेकर उन पर भी अनेकान्त-दृष्टि लागू करनी चाहिए। नग्नत्व और वस्त्रधारित्व के विषय में द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक-इन दो नयों का समन्वय बराबर हो सकता है। जैनत्व अर्थात् वीतरागत्व यह तो द्रव्य (सामान्य) है और नग्नत्व तथा वस्त्रधारित्व, एवं नग्नत्व तथा वस्त्रधारण के विविधस्वरूप-ये सब पर्याय (विशेष) हैं। उक्त द्रव्य शाश्वत है पर उसके उक्त पर्याय सभी अशाश्वत तथा अव्यापक हैं। प्रत्येक पर्याय यदि द्रव्यसम्बद्ध है-द्रव्य का बाधक नहीं है-तो वह सत्य है अन्यथा सभी असत्य हैं। इसी तरह जीवनशुद्धि यह द्रव्य है और स्त्रीत्व या पुरुषत्व दोनों पर्याय हैं। यही बात तीर्थ के और मन्दिर के हकों के विषय में घटानी चाहिए।

न्यात, जात और फिर्कों के बारे में भेदाभेद भङ्गी का उपयोग करके ही झगड़ा निपटाना चाहिए। उत्कर्ष के सभी प्रसङ्गों में अभिन्न अर्थात् एक हो जाना और अपकर्ष के प्रसंगों में भिन्न रहना-अर्थात् दलबन्दी न करना। इसी प्रकार वृद्धलग्न, अनेकपत्नीग्रहण, पुनर्विवाह जैसे विवादास्पद विषयों के लिए भी कथंचित् विधेय-अविधेय की भंगी प्रयुक्त किये बिना समाज समंजस रूप से जीवित रह नहीं सकता।

चाहे जिस प्रकार से विचार किया जाय पर आज कल की परिस्थिति में तो यह सुनिश्चित है कि जैसे सिद्धसेन, समंतभद्र आदि पूर्वाचार्यों ने अपने समय के विवादास्पद पक्ष-प्रतिपक्षों पर अनेकान्त का और तज्जनित नय आदि वादों का प्रयोग किया है वैसे ही हमें भी उपस्थित प्रश्नों पर उनका प्रयोग करना ही चाहिए। यदि हम ऐसा करने को तैयार नहीं हैं तो उत्कर्ष की अभिलाषा रखने का भी हमें कोई अधिकार नहीं है।

अनेकान्त की मर्यादा इतनी विस्तृत और व्यापक है कि उसमें से सब विषयों पर प्रकाश डाला जा सकता है। इसलिए कोई ऐसा भय न रखें कि प्रस्तुत व्यावहारिक विषयों पर पूर्वाचार्यों ने तो चर्चा नहीं की, फिर यहां क्यों की गई? क्या यह कोई उचित समझेगा कि एक तरफ से समाज में अविभक्तता की शक्ति की जरूरत होने पर भी वह छोटी छोटी जातियों अथवा उपजातियों में विभक्त होकर बरबाद होता रहे, दूसरी तरफ से विद्या और उपयोग की जीवनप्रद संस्थाओं में बल लगाने के बजाय धन, बुद्धि और समय की सारी शक्ति को समाज तीर्थों के झगड़ों में खर्च करता रहे और तीसरी तरफ जिस विधवा में संयम पालन का सामर्थ्य नहीं है उस पर संयम का बोझ समाज बलपूर्वक लादता रहे तथा जिसमें विद्याग्रहण एवं संयमपालन की शक्ति है उस विधवा को उसके लिए पूर्ण मौका देने का कोई प्रबन्ध न करके उससे समाज कल्याण की अभिलाषा रखे और हम पण्डितगण सन्मतितर्क तथा आप्तमीमांसा के अनेकान्त और नयवाद विषयक शास्त्रार्थों पर दिन रात सिरपच्ची किया करें? जिसमें व्यवहार बुद्धि होगी और प्रज्ञा की जागृति होगी वह तो यही कहेगा कि अनेकान्त की मर्यादा में से जैसे कभी आप्तमीमांसा का जन्म और सन्मतितर्क का आविर्भाव हुआ था वैसे ही उस मर्यादा में से आजकल 'समाज मीमांसा' और 'समाज तर्क' का जन्म होना चाहिए तथा उसके द्वारा अनेकान्त के इतिहास का उपयोगी पृष्ठ लिखा जाना चाहिए। ['अनेकान्त से उद्धृत।

जीवित अनेकान्त ।

कल्पना, तत्त्वज्ञान और धर्म–

कल्पना, तत्त्वज्ञान और धर्म–ये तीनों मानव-जीवन की ऐसी विशेषताएँ हैं जो दूसरे किसी के जीवन में नहीं मिलतीं। परन्तु ये तीनों वस्तुएँ एक ही कोटि की या एक ही तरह के मूल्यवाली नहीं हैं। कल्पना की अपेक्षा तत्त्व ज्ञान का स्थान ऊँचा है, इतना ही नहीं परन्तु वह स्थायी और व्यापक भी है। धर्म का स्थान तो तत्त्वज्ञान की अपेक्षा बढ़कर है, क्योंकि धर्म तत्त्वज्ञान का पक्व परिणाम–फल मात्र है।

विभिन्न व्यक्तियों में क्षण क्षण में नई-नई कल्पनाएँ नये नये रूप में उद्भव होती हैं। ये सभी कल्पनाएँ स्थिर तथा सच्ची भी नहीं होतीं। इसलिए कल्पना करने वाला व्यक्ति भी अनेक बार अपने द्वारा आदृत तथा पुष्ट कल्पनाओं को फेंक देता है। उन्हें वह बदलता भी रहता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी कल्पनाओं को सत्य की कसौटी पर कसे विना उनका सेवन तथा पोषण करता रहता है तो उन कल्पनाओं को न तो दूसरे लोग अपनाते हैं और न उन्हें स्वीकार ही करते हैं। इसके विपरीत यदि कोई कल्पना सत्य की कसौटी पर कसे जाने पर ठीक उतरती है, और उसमें भ्रान्ति भी नहीं रहती है तो वह कल्पना चाहे जिस काल, चाहे जिस देश और चाहे जिस जाति में उत्पन्न हुई हो, फिर भी वह अपनी सत्यता के वल के प्रमाण में सर्वत्र स्वीकृत की जाती है और स्थायी बन जाती है। ऐसी स्थिर कल्पनाएँ ही तत्त्वज्ञान स्वरूप गिनी जाती हैं, और वे ही कहीं भी सीमावद्ध न रह कर सार्वजनिक या वहुजनग्राह्य संपत्ति बनती हैं। मानवी परीक्षणशक्ति जिस तत्त्वज्ञान को कस करके सत्य रूप से स्वीकार करती है, वही तत्त्वज्ञान बाद में क्रमशः धीमी या तीव्र गति से मानव के आचरण का विषय बनता है और जो तत्त्वज्ञान विवेक पूर्वक आचरण में आता है, वही मानव-वंश का सच्चा विकासप्रद धर्म बन जाता है।

ऊपर की वस्तु को कुछ दृष्टान्तों से स्पष्ट करें, तो 'जीव, आत्मा, ईश्वर हैं' यह एक कल्पना है 'वे नहीं हैं' ऐसी दूसरी कल्पना है। फिर भी 'सब जीव वस्तुतः एक ही हैं, उनके बीच में वास्तविक भेद नहीं है और जीव तथा परमात्मा भी वस्तुतः

भिन्न भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं'—ऐसी कल्पनाएँ एक ओर हैं तो दूसरी ओर 'सब जीव वस्तुतः जुदे जुदे हैं, परमात्मा और जीवों के बीच में वस्तुतः भिन्नता ही है' ऐसी कल्पनाएँ भी प्रवृत्त हैं। इन कल्पनाओं से बिलकुल विपरीत कल्पनाएँ भी हैं। उनके अनुसार ईश्वर तो क्या परन्तु आत्मा जैसी स्वतन्त्र और स्थायी कोई वस्तु नहीं है। आत्मा तो पानी के बुलबुले के समान पाँच भूतों की बनी हुई एक गतिशील और दृश्य आकृति मात्र है। ये सभी अल्प या अधिक अंश में कल्पनाएँ हैं—यह समझना चाहिए। क्योंकि अमुक कल्पनाओं का पक्ष लेने वाला मनुष्य कभी उन कल्पनाओं को छोड़ कर दूसरे ही पक्ष को स्वीकार करता है या दोनों पक्षों से तटस्थ रहता है।

इन सभी कल्पनाओं के परिवर्तित और नवीन नवीन रूप धारण करने पर भी उनके पीछे कभी भी परिवर्तित नहीं होनेवाली एक चिरंतन तथा स्थिर कल्पना भी है। उदाहरण स्वरूप मनुष्य तो क्या, परंतु कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसको 'मैं कुछ हूँ' इस प्रकार के अहंत्व की प्रतीति नहीं होती हो तथा सुख-दुःख के भेद की प्रतीति और सुख के लिए प्रवृत्ति तथा दुःख की ओर अरुचि नहीं होती हो। तीनों काल में सब को एक समान रूप से मान्य—ऐसा यह अनुभव ही तत्त्वज्ञान की कक्षा में आता है। क्योंकि यह अनुभव केवल वास्तविकता की भूमिका के ऊपर स्थित होने से स्थिर रहता है। इसमें किसी के लिए कुछ आक्षेप के लिए अवकाश नहीं है। अहंत्व का भान, सुख की रुचि और दुःख की ओर अरुचि-यह अनुभव सब में एक समान और सच्चा सिद्ध हुआ है। इसीलिए इसमें से धर्म पैदा हुआ है। सत्य ही विचार करना चाहिए, जैसा विचार और समझ हो वैसा ही बोलना चाहिए और वैसा ही आचरण करना चाहिए—ऐसा जो सत्य-अहिंसा नामक धर्म मनुष्य जाति में उद्भव हुआ है और क्रमशः उसका अनेक प्रकार से विकास हुआ है तथा होता जाता है, उसके मूल में यह अनुभव ही काम कर रहा है। जीव या ईश्वर के होने न होने तथा उनके भेद या अभेद की चाहे जितनी पारस्परिक विरोधी कल्पनाएँ प्रवृत्त हों फिर भी कोई प्राणी या कोई मनुष्य ऐसा नहीं है कि जो अपने प्रति दूसरे की ओर से किये जाने वाले अरुचि जनक व्यवहार को पसंद करता हो। यही—दूसरे के पास से अपने प्रति सद्वर्तन की आशा—दूसरे के प्रति अपने सद्वर्तन को घड़ती है। यह घड़तर विरोधी धक्कों के कारण देरी से पैदा हो या समझपूर्वक जल्दी ही—यह रही अलग बात, परन्तु सारी मानव जाति इस घड़तर की ओर झुक रही है और मानवजाति में हुए तथा होने वाले महान् पुरुष अपनी जीवनचर्या से सारी मानव जाति को इसी प्रकार घड़ने के

लिए प्रयत्नशील है। इसीलिए यह घड़तर धर्म के दूसरे उपसिद्धान्तों का मूल सिद्धान्त बन जाता है।

तत्त्वज्ञान का जन्म किसी न किसी सम्प्रदाय से है। तत्त्वज्ञान के विकास और प्रचार में भी सम्प्रदायों का मुख्य हाथ है। इसी प्रकार धर्म के विकास और पोषण में सम्प्रदायों का अमुक भाग है, फिर भी मानवजाति की संकुचित दृष्टि ने इसी तत्त्वज्ञान और धर्म के निर्झर जैसे सम्प्रदाय को सँकड़ा, बंधियार तथा मलिन भी कर दिया है। अज्ञान और मोह में से उत्पन्न हुई संकुचित दृष्टि–किसी एक सम्प्रदाय के बाहर दूसरे सम्प्रदायों के वास्तविक अनुभवों को नहीं देख सकती है। कोई किसी को देखने के लिए कहता है तो वह डरता है, भड़क उठता है, स्वयं अपने द्वारा स्वीकृत किये हुए सम्प्रदाय में भी वह युक्तमना होकर चारों ओर के सत्यों को नहीं देख सकता है। इसीका नाम तो मतांधता या साम्प्रदायिकता है। मनुष्य जाति में मतांधता के कारण जो परिणाम आये हैं उनको संक्षिप्त रूपसे अङ्कित करने हों तो इस प्रकार अङ्कित कर सकते हैं—

सांप्रदायिकता का परिणाम–

१—वह सत्य की कसौटी पर नहीं कसी गई कल्पनाओं को भी तत्त्वज्ञानरूप से अङ्गीकार करके उन्हें तत्त्वज्ञान की कोटि में रखता है।

२—वह किसी दूसरे के द्वारा सत्य सिद्ध किये हुए और तत्त्वज्ञान स्वरूप अङ्गीकृत किये हुए ऐसे अनुभव के विषय में भी विचार करने व अपनाने से डरता है तथा पीछे हटता है।

३—जो बात अपने और दूसरे के सम्प्रदाय में एक समान हो वह भी उसे एक समान नहीं दिखाई देती। एक ही सिद्धान्त के बराबर होने पर भी वह उस सिद्धान्त को अपने सम्प्रदाय में तो बढ़कर तथा त्रुटिविहीन मानता है, जब कि दूसरे सम्प्रदाय के उसी सिद्धान्त को वह पहले तो स्वीकार नहीं करता है और किसी प्रकार स्वीकार कर भी लेता है तो उसे वह घटिया और त्रुटिपूर्ण मानकर बराबरी का स्थान देने को तैयार नहीं होता।

४—उसे यह अच्छा लगता है कि एक अथवा दूसरी ही रीति से उसकी मान्यताओं का श्रेष्ठत्व–फिर चाहें वे वास्तविक हों या नहीं–लोग स्वीकार करें। और ऐसे श्रेष्ठत्व को मानने व मनवाने की धुन में वह दूसरे किसी भी सम्प्रदाय के उतने ही श्रेष्ठ सिद्धान्तों तथा उतने ही कीमती अनुभवों को अपनी शक्ति लगाकर हलके सिद्ध करने की कोशिश करता है।

५—वह आचरण करने में चाहे जितना निर्बल हो; अपनी सब दुर्बलताओं को जानता भी हो और अपने सम्प्रदाय की सामूहिक कमजोरियों को स्वयं अनुभव करके व्यक्तिगतदृष्टि से उनको स्वीकार करता भी हो—फिर भी उसके मन में ये ही विचार आते रहते हैं कि अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तकों, आगेवानों और शास्त्रों की महत्ता किसी तरह बनी रहे और दूसरे सम्प्रदायों के प्रवर्तकों, आगेवानों और शास्त्रों की लघुता देखकर उसके मन में एक प्रकार का अजीब रस बहता है तथा प्रकटरूप से उस लघुता द्वारा अपने सम्प्रदाय की महत्ता स्थापित करने के लिए लालायित होता है। जिसके परिणामस्वरूप खण्डन-मण्डन और वाद-विवाद का जन्म होता है।

जीवित अनेकान्त की व्याख्या—

इतनी सामान्य भूमिका के बाद अब हम अपने मुख्य विषय पर आते हैं। अनेकान्त यह जैन सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त है, जो तत्त्वज्ञान और धर्म के दोनों प्रदेशों में समानरूप से मान्य हुआ है। अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनों शब्द अभी सामान्यरीति से एक ही अर्थ में व्यवहृत होते हैं। मात्र जैन ही नहीं परन्तु जैनेतर बुद्धिमान् वर्ग भी जैन दर्शन व जैन सम्प्रदाय को अनेकान्त दर्शन या अनेकान्त सम्प्रदाय के स्वरूप से पहचानते तथा पहचान कराते हैं। चिरकाल से जैन अपनी अनेकान्त सम्बन्धी मान्यता को एक अभिमान की वस्तु देखते आये हैं और इसकी भव्यता, उदारता तथा सुन्दरता का स्थापन करते आये हैं। यहाँ हमें यह देखना है कि अनेकान्त यह है क्या वस्तु? और उसकी जीवितता क्या है? तथा ऐसा जीवित अनेकान्त अपनी जैन परम्परा में सामुदायिक दृष्टि से क्या कभी था और क्या अभी है?

वस्तुतः अनेकान्त यह एक प्रकार की विचार पद्धति है। वह सब दिशाओं से—सब ओर से खुला एक मानसचक्षु है। ज्ञान के, विचार के और आचरण के—किसी भी विषय को वह केवल संकीर्ण दृष्टि से देखने के लिए निषेध करता है और शक्य हो उतनी अधिक से अधिक बाजुओं से, अधिक से अधिक दृष्टिकोणों से और अधिक से अधिक मार्मिक रीति से—वह सब कुछ विचारने और आचरण करने का पक्षपात रखता है। उसका यह पक्षपात भी केवल सत्य पर ही आश्रित है। अनेकान्त की जीवितता का अर्थ है—उसके आगे पीछे, और भीतर सर्वत्र सत्य का—यथार्थता का प्रवाह। अनेकान्त यह केवल कल्पना नहीं है, परन्तु सत्यसिद्ध कल्पना के होने से तत्त्वज्ञान है और विवेकी आचरण का विषय होने से वह

धर्म भी है। अनेकान्त का जीवन इसमें है कि वह जैसे दूसरे विषयों को सब ओर से तटस्थरूप से देखने, विचारने और अपनाने के लिए प्रेरित करता है, उसी प्रकार वह अपने स्वरूप और जीवन के विषय में भी मुक्तमन से ही विचार करने के लिए तैयार रहता है। विचारों की जितनी स्पष्टता और तटस्थता अधिक होती है उतनी ही मात्रा में अनेकान्त का बल या जीवन विशद होता है।

विचारणीय प्रश्न–

यदि अनेकान्त के जीवन की ऊपर की गई व्याख्या सच्ची हो तो हमें आगे पीछे के किसी भी प्रकार के बन्धन को स्वीकार किये बिना बिलकुल तटस्थवृत्ति से इसके सम्बन्ध में भी विचार करना होगा। यह विचार करते समय पहले कुछ निम्नाङ्कित प्रश्न उद्भव होते हैं–

१—क्या ऐसी अनेकान्तदृष्टि केवल जैन परम्परा के प्रवर्तकों और अनुयायियों में ही थी और है या मनुष्य जाति में अस्तित्व रखने वाले दूसरे सम्प्रदायों के प्रवर्तकों और अनुयायियों में भी यह कभी प्रवृत्त हुई है या प्रवृत्त हो सकती है?

२—परिभाषा, व्याख्या और उपयोग में चाहे कितना ही भेद क्यों न हो, पर किसी भी जैनेतर सम्प्रदाय के प्रवर्तकों व अनुयायियों में यदि सचमुच ही अनेकान्त विचार और अनेकान्त आचार पाया जाए, अथवा वह हमें प्रमाण से सत्य जँचे, तब क्या उसे पूर्ण आदर के साथ स्वीकार करना उचित है? या सांप्रदायिक अभिनिवेश में आकर उसकी तरफ़ से आँख ही बन्द कर लेना?

३—अनेकान्त की नींव पर स्थापित और पोषित जैन सम्प्रदाय में भी–दूसरे सम्प्रदायों की अपेक्षा–अनेकान्त यदि जीवन में अधिक न उतरा हो, फिर भी अनेकान्त पर जैन लोगों के गौरवानुभव करने का कुछ कारण है? अथवा अनेकान्त पर उन के गौरवानुभव का क्या अर्थ है?

जैनेतरोंकी अनेकान्त दृष्टि–

पहले द्वितीय और तृतीय प्रश्न को लें। मैं सोचता हूँ कि 'चाहे जैसी सांप्रदायिक मनोवृत्ति वाला जैन होगा तो भी इस प्रकार तो शायद ही कहेगा कि जैन के अतिरिक्त किसी भी सम्प्रदाय के प्रवर्तक या अनुयायी में सचमुच ही अनेकान्त विचार या आचार हो तो उसे स्वीकार करते हुए, व उसका आदर करते हुए आनाकानी करना चाहिए। ऐसा भी कोई जैन शायद ही निकलेगा कि दूसरे सम्प्रदाय के प्रवर्तक या अनुयायी के जीवन में जितना अनेकान्त उतरा हो,

उतना अपने जीवन में नहीं होने पर भी केवल साम्प्रदायिक मान्यता के कारण अपने में गौरव का अनुभव करे।

फिलहाल पहले प्रश्न के सम्बन्ध में ही कुछ विचार करना ठीक है। मैं अपने वाचन और चिंतन के परिणाम स्वरूप बिलकुल स्पष्ट रूप से देख सका हूँ कि परिभाषा, शैली और उपयोग की पद्धति चाहे जितनी भिन्न हो फिर भी सभी प्रसिद्ध जैनेतर सम्प्रदाय के प्रवर्तक और उनके कितने ही अनुयायी भी अनेकान्त का आश्रय लेकर अपने अपने ढंग से विचार प्रकट कर गए हैं और मैं यह भी स्पष्ट रूप से देख सकता हूँ कि अनेकान्तदृष्टि से विचार करने की शक्यता का संभव यदि जैन संप्रदाय के प्रवर्तक और उनके अनुयायियों में है तो उतनी ही शक्यता का संभव दूसरे किसी भी भिन्न नाम से पहचाने जाने वाले संप्रदाय के अनुयायियों में भी है। इतना ही नहीं परन्तु कई बार तो व्यवहार में जैनों की अपेक्षा जैनेतर संस्कारी और शिक्षित व्यक्तियों में यह शक्यता अधिक प्रमाण में दृग्गोचर होती है। मेरे इस अभिप्राय की यथार्थता की जाँच करने की इच्छा रखने वालों को मैं कुछ सूचनाएँ करना चाहता हूँ। यदि वे इन सूचनाओं का उपयोग करके देखेंगे, तो उनको स्वयं अपनी आँखों के द्वारा यह सत्य दीपक जैसा दिखाई देगा। सरलतम और सबसे पहले अमल में ला सकें ऐसी सूचना यह है कि जो जैन हो वह उत्तराध्ययन का मूल या उसका भाषान्तर पढ़े उसके साथ ही बौद्ध सम्प्रदाय का धम्मपद या वैदिक सम्प्रदायों की मान्य गीता पढ़े। पढ़ते समय केवल यही दृष्टि रहे कि प्रत्येक सम्प्रदाय के उन उन शास्त्रों में चित्तशुद्धि, संयम, अहिंसा आदि सद्गुणों की पुष्टि कैसी एक सरीखी रीति से की गई है। इससे आगे बढ़ कर अधिक देखने की इच्छा रखने वाले को मैं सूचना करना चाहता हूँ कि स्वयं तथागत बुद्ध ने वे किस अर्थ में क्रियावादी हैं और किस अर्थ में अक्रियावादी हैं, इसका जो खुलासा किया है और जिस प्रकार उन्होंने अपने जीवन में अनेकान्तदृष्टि होने की सिद्धि की है उसकी जैन अनेकान्त के साथ तुलना करना। उसी प्रकार पातञ्जल योगशास्त्र या उसकी अपेक्षा भी बहुत पुराने उपनिषदों में जो अधिकार युक्त अनेकविध आध्यात्मिक साधनाएँ बतलाई हैं उनकी जैन आध्यात्मिक साधनाओं के साथ तुलना करना, जैसा कि आचार्य हरिभद्र और यशोविजयजी ने किया है। जरथोस्त्रियन, क्रिश्चियन और इस्लामी धार्मिक आज्ञाओं तक न जायँ, तो भी ऊपर कहे हुए बौद्ध और वैदिक शास्त्रों की जैन शास्त्रों के साथ तुलना करने से यह विश्वास हो जायगा कि सत्य और उसकी विचार दृष्टि किसी एक ही पंथ में बँध कर नहीं रहती है। उस मुद्दे को

अधिक स्पष्ट करने की इच्छा रखने वाले को मैं एक दूसरी भी सूचना करना चाहता हूँ और वह यह है कि उसे समान कक्षा के अमुक पुरुष सम संख्या में प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायियों में से पसंद करने चाहिए। उसके बाद उसे चाहिए कि वह पसंद किये हुए व्यक्तियों की जीवनचर्या और विचारसरणी की नोंध तटस्थरूप से ले। पसंद किये हुए समानकक्षा के व्यापारी हों या वकील, डॉक्टर हों या शिक्षक, किसान हों या नौकर, इन सबके परिचय से परीक्षक देख सकेगा कि वारसे में अनेकान्तदृष्टि मिलने का दावा करने वाले तथा उस दावे पर गौरव करने वाले जैनों की अपेक्षा जैनेतर कितने अंश में उतरते हैं, बढ़कर हैं या लगभग बराबर हैं। जीवित अनेकान्त हमें जाग्रत रहने, अपने आप पर या दूसरों के ऊपर अन्याय नहीं करने के लिए कहता है। इसलिए हम केवल साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण अपने सम्प्रदाय के विषय में तथा दूसरे सम्प्रदायों के विषय में जो अघटित विधान करते रहते है, उनसे बचते रहना यह हमारा पहला धर्म है।

क्या जैनों के जीवन में अनेकान्त है ?

अब हमारे लिए अन्तिम मुद्दे की परीक्षा करनी बाकी है कि जीवित अनेकान्त क्या जैन परम्परा में कभी था और क्या आज भी है? इस प्रश्न का जवाब जैसा मालूम होता है वैसा कठिन नहीं है। ऐसे तो प्रत्येक जैन मानता और कहता ही है कि अनेकान्त यह मुख्य जैन सिद्धान्त केवल तात्त्विक ही नहीं है, परन्तु व्यावहारिक भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि तत्त्वज्ञान के विचार प्रदेश में या जीवन के प्रत्येक कार्यक्षेत्र में यदि अनेकान्त का उपयोग हो, तो वह दूसरी किसी भी दृष्टि की अपेक्षा अधिक सुरक्षित तथा उपयोग करने वाले के लिए अधिक से अधिक समाधानकारक सिद्ध होता है। हमें जैन परम्परा के सभी क्षेत्रों में यह कसौटी लागू करके देखना चाहिए कि अनेकान्तदृष्टि ने उसमें कितना महत्वपूर्ण भाग अदा किया है और अभी कितना फर्ज अदा करती है।

धार्मिक जीवनमें—

जीवन के धर्म, कर्म, साहित्य, समाज और राष्ट्र इतने विभाग करके विचार करें। सब से पहले हम यह देखें कि जैन परम्परा के धार्मिक जीवन में अनेकान्त का स्थान क्या रहा है और अभी क्या है? भगवान् महावीर के पहले के समय की बात छोड़कर केवल उनके बाद का आज तक का धार्मिक इतिहास देखेंगे तो स्पष्ट मालूम हो जाएगा कि अनेकान्त को अपने सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्तके रूपसे स्थापित करने

वाले आचार्य या विद्वान् अपने जीवन में उसे शायद ही उतार सके हैं। इसके प्रमाण के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दो मुख्य फिरकों की ओर पहले दृष्टिपात कीजिए। श्वेताम्बर फिरके में ऐसा क्या तत्त्व है कि जिसके कारण दिगम्बरों को अलग ही रहना पड़े? या दिगम्बरों में ऐसी क्या बात है कि जो श्वेताम्बरों को अलग रखे? कोई उत्कट त्यागी दिगम्बर फिरके में हुआ हो तो क्या वैसा त्यागी श्वेताम्बर फिरके ने नहीं पैदा किया? श्वेताम्बर फिरके के वस्त्रधारण से शिथिलता आती ही हो तो दिगम्बर फिरके में शिथिलता का नाम तक नहीं होना चाहिए। दिगम्बर शास्त्रों और श्वेताम्बर शास्त्रों के बीच में उल्लंघन नहीं की जा सके ऐसी खाई तो क्या, परन्तु ऐसी एक लाइन भी नहीं है कि जो दोनों को मिलने या एकरस होने से रोकती है। जो दोनों फिरकें सारे जगत् को सुख और शान्ति फैलाने के लिए अनेकान्त का उपदेश करने निकलते हैं और पहले से ही दोनों फिरके के विद्वान् शास्त्रों में अनेकान्त का नगाड़ा बजाते आये है, वे दोनों भी क्या कभी मिले हैं? अनेकान्त ने क्या उनको परस्पर मिलाया है? उनके तीर्थकलहों का क्या अनेकान्त ने समाधान किया है? जो फिरके या जिन फिरकों के अग्रसर विद्वान् और आचार्य अपने अंदर के बिलकुल सामान्य जैसे मतभेदों को मिटा नहीं सकते हैं, उनमें अनेकान्त का तत्त्वज्ञान या अनेकान्तमय धर्म है ऐसा कौन कहेगा? अच्छा, इससे और आगे चल कर देखें। थोड़ी देर के लिए ऐसा मान लें कि अनेकान्तदृष्टि ने केवल किसी एक जैन फिरके का वरण किया है, तो फिर उस फिरके के अनुयायियों को हम जरूर पूछेंगे कि भाइयों! आपके श्वेताम्बर और दिगम्बर किसी एक ही फिरके में पहले से आज तक गण-गच्छ के छोटे छोटे वाड़े कैसे पड़े जो एक दूसरे से दूर रहने में ही महत्त्व मानते आ हैं? क्या अनेकान्त यह मिलाने वाला है या अलग कराने वाला है? यदि विभाग ही कराने वाला हो तो आपका स्थान दुनिया के दूसरे किसी भी निम्नतम पंथ की अपेक्षा उच्च नहीं है। मिलाने वाला हो, तो आप अपने फिरके में होने वाले छोटे छोटे विभागों को भी मिला नहीं सकने के कारण जीवन में अनेकान्त नहीं उतार सके हैं और न अनेकान्त को जीवित ही रख सके हैं। बहुत पुराने समय की बात छोड़ दें और अंतिम पाँचसौ वर्ष के नवीन फिरके का ही विचार करें, तो जैन परम्परा में धार्मिक जीवन अनेकान्तविहीन ही मालूम होगा। स्थानकवासी फिरके को पूछें कि आपने पहले के दो फिरकों से अलग होकर अनेकान्त सिद्धान्त को जीवित रखा है या उसकी विक्षत काया के अधिक टुकड़े किये हैं। यदि

स्थानकवासी फिरके ने अपने छोटे बड़े टोलों को मिलाने भर का और ओघे की फलियों को इस प्रकार बांधना या उस प्रकार बांधना—इतने ही निर्णय भर का अनेकान्त जीकर बताया होता तब इतना तो संतोष होता कि जीवन में अनेकान्त की हत्या करने वाले पहले के दो फिरकों की अपेक्षा इस नवीन फिरके ने कुछ तो अनेकान्त का जीवन बचाया। परन्तु हम तो भूतकाल के इतिहास और वर्तमान जीवन में देखते हैं कि छ कोटी–आठ कोटी बोल की संख्या वाले या अमुक पाठ बोलने या न बोलने के भेद वाले, या केले खा सकते हैं या नहीं, अथवा पर्युषण पर्व अमुक तिथि को करना या नहीं करना इत्यादि अनंत झगड़े बढ़ा कर अनेकान्त के अनेक अंत कर डाले हैं। संक्षेप में जैन परंपरा के धार्मिक इतिहास में अनेकान्त तो जीवित दिखाई देता ही नहीं है। हाँ, कल्पना में उसने अनेकान्त इतना अधिक फैलाया है कि अनेकान्त का पोषण करने वाला एक खास स्वतन्त्र साहित्य ही रच डाला है। परन्तु इस स्थल पर यह बात खास उल्लेख करने योग्य है कि अनेकान्त की व्याख्या करते समय आचार्यों और विद्वानों ने जो उदाहरण और दृष्टान्त दिये हैं और जो अभी देते हैं, वे उदाहरण 'बाल के अग्र भाग के ऊपर नाचा जा सकता है या नहीं' इस प्रश्न के मनोरञ्जक जवाब जैसे हैं। आकाश-पुष्प की सिद्धि तक अनेकान्त गया है; परन्तु मन्दिर अलग-अलग होने पर भी एक ही तीर्थ में श्वेताम्बर-दिगम्बर मेल-जोल और पूर्ण समाधान से रह सकते हैं या नहीं और रह सकते हैं तो किस प्रकार तथा नहीं रह सकते तो किस प्रकार इसका निर्णयकारी खुलासा इतने कलहशास्त्र के अनुभव के परिणाम स्वरूप भी अनेकान्त के महारथियों ने अभी तक नहीं किया है। धार्मिक जीवन में बिलकुल ही छिन्नभिन्न हुए और व्यर्थ की बातों में भी श्वान या महिष युद्ध करने वाले धर्मविद्वान् यदि अपनी परंपरा में अनेकान्तदृष्टि या अनेकान्त जीवन का दावा करते हैं तो उन्होंने आँख पर पट्टी बाँध रक्खी है जो कि दूसरे को और अपने को भी देखने के लिए मना करते हैं ऐसा ही कहा जा सकता है।

व्यावहारिक जीवन में—

कर्मप्रदेश अर्थात् धन्धे का क्षेत्र। धन्धे में अनेकान्त लागू हो सकता है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर जैन कभी निषेधात्मक तो नहीं दे सकते। तब देखें कि उन्होंने धन्धे के क्षेत्रमें अनेकान्त को कहाँ तक अपनाया है। जीवनयापन के लिए अनेक वस्तुएँ चाहिए, काम भी अनेक प्रकार के करने पड़ते हैं। हम जैन परंपरा से पूछते हैं कि तुम्हें जीना हो तो किस वस्तु और किस कामके बिना जी सकोगे?

इतने पर भी हम देखते हैं कि जैन एक ही धन्धा सीखते हैं और एक ही धन्धे की ओर बढ़ते जाते हैं। वह धन्धा है व्यापार या नौकरी का। क्या जैनों के लिए खेती की आवश्यकता नहीं है? क्या सामुद्रिक यान या विमानी साहसों की आवश्यकता नहीं है? क्या आत्म और पर रक्षण के लिए फौजी तालीम की आवश्यकता नहीं है? क्या उन्हें अपनी स्वच्छता और अपने आरोग्य के लिए दूसरों की स्वच्छता और दूसरों के आरोग्य की ही बलि लेना चाहिए? जब हम जैन लोगों के धन्धे और उसके परिणाम-स्वरूप नष्ट होती हुई उनकी शारीरिक और मानसिक शक्ति का विचार करेंगे तो हमें स्पष्ट मालूम होगा कि जैन धन्धे के क्षेत्र के सम्बन्ध मे एकान्ती हो गए हैं। उनको अच्छा अनाज, अच्छे फल और स्वच्छ दूध घी तो चाहिए, परन्तु उनके उत्पादक धन्धे वे नहीं कर सकते। उनको चमड़े की प्रत्येक वस्तु चाहिए परन्तु वे चमड़ा कमाने आदि के काम में सम्मिलित नहीं हो सकते। इसलिए अनेकान्त का विचार केवल विद्वानों और धर्मगुरुओं तक ही सीमित है, ऐसा उन्होंने मान लिया है। अतएव अनेकान्त प्रत्यक्ष जीवन में से चला गया है।

साहित्यिक जीवन में—

साहित्य का प्रदेश लें। जैनों का दावा है कि अनेकान्त जैसी विशाल और उदार दृष्टि एक भी नहीं है और फिर भी हम सदैव केवल गृहस्थ जैनों को ही नहीं, परन्तु त्यागी और विद्वान् जैनों तक को साहित्य की प्रत्येक शाखा में दूसरों के हाथ से पानी पीते और दूसरे के प्रमाणपत्र से प्रसन्न होते तथा दूसरे सम्प्रदाय के विद्वानों का अनिवार्यरूप से अनुसरण करते देखते हैं। जो अनेकान्त-दृष्टि अनेक बाजुओं से अनेक वस्तुओं का अनेक रीति से प्राचीन नवीन ज्ञान सञ्चित करने के लिए प्रेरित कर सकती है, उसी अनेकान्त-दृष्टि की हिमायत करनेवाले वर्ग में जब साहित्य उपासना और विद्या उपासना की बाबत में इतनी अधिक पामरता दिखाई देती है, तब कौन मान सकता है कि जैन-परम्परा में अनेकान्त-दृष्टि जीवित है?

सामाजिक जीवन में—

अब समाजक्षेत्र को लेकर विचार करें। समाज की नींव लग्न संस्था है। इसका असली उद्देश यह है कि मनुष्य अपनी शक्ति के निरंकुश आवेगों को मर्यादित और विवेकपूर्ण नियमन द्वारा काबू में रख कर उनका इस प्रकार विनियोग करे कि जिससे समाजतन्तु चालू रहे और वह उत्तरोत्तर अधिक अभ्युदयवान् बने। इस

उद्देश की दृष्टि से लग्नसंस्था माङ्गलिक ही नहीं, परन्तु पवित्र तथा आशीर्वादरूप भी है। यदि इससे विपरीत केवल देहवासना-प्रेरित लग्नसंस्था चले तो वह न तो मांङ्गलिक ही है और न पवित्र ही उलटी शापरूप है। जब तक ऐसा विवेक जागरूक रहता है और उसीका पोषण विचारकों द्वारा किया जाता है वहाँ तक अनेकान्त इस संस्था के प्रति जीवित है ऐसा कहा जा सकता है। हम भूतकाल का इतिहास और वर्तमान हमारे समाज का मानस देखें, तो हमें मालूम होगा कि इस बारे में अनेकान्त जीवित नहीं रहा है। जैन समाज में विचारकों का मुख्य स्थान त्यागी लेते आए हैं। त्यागियों की यह संस्था केवल एक ही आश्रम के ऊपर भार देती आई है और अभी भी इसी प्रकार भार देती है। इसलिए यह संस्था लेख में या उपदेश में जहाँ और तहाँ या जब और तब एक ही बात कहती आई है कि लग्न यह तो व्यर्थ की उपाधि और बन्धन है तथा यह अपवित्र भी है। ऐसा सतत उपदेश और प्रचार होने पर भी प्रकृति से ही जो संस्था समाज के साथ सङ्कलित है वह नष्ट नहीं हुई है और होनेवाली भी नहीं है। परन्तु ऐसे ऐकान्तिक उपदेश का समाज के मानस पर एक परिणाम यह हुआ है कि वह लग्नसंस्था को टिकाए जाता है परन्तु मानों अनिच्छापूर्वक गले बाँधा हुआ ढोल वह बजाता जाता है। एक ओर आवेग और कर्तव्य-उत्साहशील व्यक्तियों को लग्न की ओर प्रेरित करते हैं और दूसरी ओर उनके मन में गहरे वारसागत लग्न की अपवित्रता के विवेकशून्य संस्कार पोषित होते जाते हैं। परिणाम-स्वरूप कौटुम्बिक जीवन में जब अनेक प्रकार की जवाब-देही के प्रसङ्ग आते हैं तब मनुष्य विवेकदृष्टि नहीं होने से बहुधा असन्तुष्ट होकर योग्य रास्ता निकालने के बदले लग्न संस्था की अपवित्रता के स्मरण के कारण कौटुम्बिक जीवन की निन्दा करता है और उसे भाररूप गिनता है। यदि ऐसा मनुष्य कुटुम्ब में रहता है, तो भी वह उसका कुछ भला नहीं करता है। यदि वह कुटुम्ब छोड़कर योग लेता है तो भी वह बहुत बार इस योग को भोग से मिला देता है। उसने अपवित्रता या पवित्रता कहाँ रहती है यह पहले से ही जाना न था। उसने तो मान लिया था कि कुटुम्ब बन्धन अपवित्र है और कुटुम्ब से पृथक् होना पवित्र है। यदि इसमें जीवन्त अनेकान्त के संस्कारों का प्रथम से ही सिंचन होता तो वह ऐसा मानता कि पवित्रता या अपवित्रता-ये दोनों मनोगत ही हैं और इसलिए वह मन की पवित्रता की ओर भार देकर उसकी रक्षा करने और उसे पोसने का प्रयत्न करता और परिणामस्वरूप वह लग्नसंस्था के उद्देश को जीवन में उतार सकता और अपनी निर्बलता लग्नसंस्था के ऊपर

नहीं लादता। आज तो भोगवासना की प्रबलता, जो मनोगत एक अपवित्रता और भारी निर्बलता है वही लग्नसंस्था के ऊपर लादी जाती है और परिणामस्वरूप सारा समाज बहुत अंश में लग्नसंस्था की जवाबदेहियों की दृष्टि से या त्यागी संस्था की जवाबदेही की दृष्टि से बिलकुल ही निर्बल हो गया है।

दूसरा प्रश्न ऊँच नीच की भावना का है। जब जन्म सत्ता और सम्पत्ति आदि की बाह्य दृष्टि से ऊँच नीचता मानने-मनाने का सनातनधर्म पूरे जोश में था तब भगवान् महावीर और तथागत जैसों ने उच्च नीचता की कसौटी सद्गुण का तारतम्य है यह बात अपने व्यवहार से समाज के सामने रखी। इस विषय में जीवित अनेकान्त का जो दृष्टिबिन्दु था उसे हम वीर के वारिस होकर भी नहीं समझ सके और न व्यवहार में उसकी रक्षा करने के लिए प्रयत्न ही किया। ऐसा केवल धर्मक्षेत्र में ही नहीं हुआ, परन्तु कर्म और समाजक्षेत्र में भी हम फिर से सनातनधर्म की ऊँच-नीच की भावना में फँस गये। योग्यता को बढ़ाने और फैलाने के प्रयत्न द्वारा दलित और पतित जातियों के उद्धार करने का जो काम महावीर ने अपने वारिसों को सौंपा था उस काम को न करके वे ही फिर से 'हम बढ़िया और तुम घटिया' इसी भावना के चक्कर में पड़ गये। उन्होंने ब्राह्मणों को प्रत्युत्तर दिया कि ब्राह्मण जाति ऊँच नहीं है। ब्राह्मण जाति के सद्गुणों को अपनाये बिना उसे हेच मानने-मनाने का काम एक ओर चालू रहा और दूसरी ओर पहले के दलित और पतितों को व्यवहार में नीच मानना-मनाना भी चालू रहा। स्थिति यहाँ तक आई कि जैन समाज केवल स्थान भेद से उत्पन्न होनेवाले ओसवाल, पोरवाल, श्रीमाल आदि अनेक जाति-उपजातियों के भागों में विभाजित हो गया और छोटे-छोटे गोल में विभाजित होकर क्षीणवीर्य होनेलगा। बीसे दसों को कम गिनते हैं तो दसे पाँचों को और पाँचे ढाइयों को। संस्कार, आयु और दूसरी सब योग्यता होने पर भी एक जाति का दूसरी जाति के साथ और एक गोल का दूसरे गोल के साथ लग्न व्यवहार सीमित हुआ। लग्न और दूसरी जरूरी बातों में जैन-समाज दूसरे समाजों को तलाक देता ही जाता था और इससे आगे बढ़ कर वह परस्पर भी सम्बन्ध बढ़ाने के बदले तोड़ने लगा। संकुचितता का विष केवल लग्न सम्बन्ध के विच्छेद तक ही सीमित नहीं रहा, परन्तु उसने धर्मक्षेत्र में भी प्रवेश किया। श्वेताम्बर और दिगम्बरों के लग्न-सम्बन्ध विच्छिन्न हुए और दिगम्बर फिरके में तो इस विषय में यहाँ तक हुआ है कि उस समाज का प्रतिष्ठित पंडितवर्ग दिगम्बर दसा भाइयों का पूजा

अधिकार भी स्वीकार नहीं करता। दसाकौम का दिगम्बर चाहे जैसा संस्कारी या विद्वान् हो परन्तु वह सर्व सामान्य मन्दिरों में पूजा अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता है। इतना ही नहीं, परन्तु यदि उसने कहीं ऐसे स्थान पर पूजा की तो उसको दूसरे वर्ग द्वारा कोर्ट में ले जाने के दृष्टान्त भी आज मिलते हैं। जिस अनेकान्त ने सद्गुणों को ही एक मात्र निरभिमान उच्चता की कसौटी कहा वही अनेकान्त निष्प्राण होने पर आज भाई-भाई परस्पर नहीं मिल सकें ऐसे विभाग कर रहा है।

राष्ट्रीय जीवन में—

अंत में राष्ट्रीयता का प्रदेश उपस्थित होता है। जैन समाज का त्यागी वर्ग स्वयं दीर्घदृष्टिपूर्वक कभी भी राष्ट्र भावना का पोषण करता रहा हो ऐसा इतिहास देखने से मालूम नहीं होता। अलबत्ता कुछ पराक्रमी और समझदार नररत्न समाज में पैदा हों और वे मुख्यरूप से अपनी बुद्धि से राष्ट्रोद्धार का काम करें और उसमें यश प्राप्त करें तो पीछे से जैन त्यागी और विद्वान् वर्ग भी उसके राष्ट्रकार्य की यशोगाथा गाता और प्रशस्ति रचता है। भामाशाह प्रतापकी मदद करे उसके बाद उसकी यशोगाथा आज तक भी हम सुनते हैं। देखना तो यह है कि यह राष्ट्रकार्य की प्रशंसा स्वयं विचार प्रेरित है या वह लोकप्रवाह का अनुसरण है? यदि वस्तुपाल, भामाशाह या दूसरे किसी भी वैसे वीर के राष्ट्रोद्धार कार्य को अनेकान्त के विवेक में शुरू से ही स्थान रहा होता, तो वह विवेक जैनसमाज में ऐसा कार्य सतत चालू रखने की और पोसने की प्रेरणा देता, परन्तु हम इससे उलटा देखते हैं। कोई भी त्यागी या धर्मशास्त्री पंडित राष्ट्रकथा को विकथा कह कर हलकी ठहरा देता है और राष्ट्रीय प्रवृत्ति को राज्यविरुद्धातिक्रम कह कर उसमें सम्मिलित होने वाले उत्साही युवकों को हतोत्साह करता है। एक युग ऐसा था जब कि राष्ट्र कार्य और राष्ट्रीय प्रवृत्ति—ये शब्द सुनते ही कान में शस्त्र की खनखनाहट सुनाई देने लगती। उस समय अहिंसा के उपासक ऐसा प्रतिपादन करते थे कि जैनधर्म अहिंसामूलक है अतएव हिंसा के साथ संकलित राष्ट्रकार्य या राष्ट्रक्रान्ति में सच्चा जैन किस प्रकार सम्मिलित हो सकता है? तुरत ही दूसरा युग ऐसा आया कि राष्ट्रोत्थान की प्रत्येक प्रवृत्ति अहिंसा के ऊपर रची गई और उसी दृष्टि से चलाई जाने लगी। इस समय अहिंसा सिद्धान्त का अनन्य दावा करने वाले कुछ त्यागी और पण्डित कहने लगे कि राजकीय प्रवृत्ति या राष्ट्रीय प्रवृत्ति में अहिंसा का पालन शक्य नहीं है। यहाँ प्रश्न यह है कि अहिंसा का पालन

अनेकान्तवाद।

दो मौलिक विचारधाराएँ—

विश्व का विचार करनेवाली परस्पर भिन्न ऐसी मुख्य दो दृष्टियाँ हैं। एक है सामान्यगामिनी और दूसरी है विशेषगामिनी। पहली दृष्टि शुरू में तो सारे विश्व में समानता ही देखती है पर वह धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते २ अन्त में सारे विश्व को एक ही मूल में देखती है और फलतः निश्चय करती है कि जो कुछ प्रतीति का विषय है वह तत्त्व वास्तव में एक ही है। इस तरह समानता की प्राथमिक भूमिका से उतर कर अन्त में वह दृष्टि तात्त्विक–एकता की भूमिका पर आ कर ठहरती है। उस दृष्टि में जो एक मात्र विषय स्थिर होता है, वही सत् है। सत् तत्त्व में आत्यन्तिक रूप से निमग्न होने के कारण वह दृष्टि या तो भेदों को देख ही नहीं पाती या उन्हें देखकर भी वास्तविक न समझने के कारण व्यावहारिक या अपारमार्थिक या बाधित कहकर छोड़ ही देती है। चाहे फिर वे प्रतीतिगोचर होनेवाले भेद कालकृत हों अर्थात् कालपट पर फैले हुए हों जैसे पूर्वापररूप बीज, अंकुर आदि; या देशकृत हों अर्थात् देशपट पर वितत हों जैसे समकालीन घट, पट आदि प्रकृति के परिणाम; या द्रव्यगत अर्थात् देशकाल-निरपेक्ष साहजिक हों जैसे प्रकृति, पुरुष तथा अनेक पुरुष।

इसके विरुद्ध दूसरी दृष्टि सारे विश्व में असमानता ही असमानता देखती है और धीरे धीरे उस असमानता की जड़ की खोज करते करते अंत में वह विश्लेषण की ऐसी भूमिका पर पहुँच जाती है, जहाँ उसे एकता की तो बात ही क्या, समानता भी कृत्रिम मालूम होती है। फलतः वह निश्चय कर लेती है कि विश्व एक दूसरे से अत्यंत भिन्न ऐसे भेदों का पुंज मात्र है। वस्तुतः उसमें न कोई वास्तविक एक तत्त्व है और न साम्य ही। चाहे वह एक तत्त्व समग्र देश-काल व्यापी समझा जाता हो जैसे प्रकृति; या द्रव्यभेद होने पर भी मात्र काल व्यापी एक समझा जाता हो जैसे परमाणु।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियाँ मूल में ही भिन्न हैं, क्योंकि एक का आधार समन्वय मात्र है और दूसरी का आधार विश्लेषण मात्र। इन मूलभूत दो विचार सरणियों के कारण अनेक मुद्दों पर अनेक विरोधी वाद आप ही आप खड़े हो जाते हैं। हम देखते हैं कि सामान्यगामिनी पहली दृष्टि में से समग्र देश-काल-व्यापी तथा

देश-काल-विनिर्मुक्त ऐसे एक मात्र-सत्-तत्त्व या ब्रह्माद्वैत का वाद स्थापित हुआ; जिसने एक तरफ से सकल भेदों को और तद्ग्राहक प्रमाणों को मिथ्या बतलाया और साथ ही सत् तत्त्व को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कह कर मात्र अनुभवगम्य कहा। दूसरी विशेषगामिनी दृष्टि में से भी केवल देश और काल भेद से ही भिन्न नहीं बल्कि स्वरूप से भी भिन्न ऐसे अनंत भेदों का वाद स्थापित हुआ। जिसने एक ओर से सब प्रकार के अभेदों को मिथ्या बतलाया और दूसरी ओर से अंतिम भेदों को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कह कर मात्र अनुभवगम्य बतलाया। ये दोनों वाद अंत में शून्यता तथा स्वानुभवगम्यता के परिणाम पर पहुँचे सही, पर दोनों का लक्ष्य अत्यंत भिन्न होने के कारण वे आपस में बिलकुल ही टकराने और परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ने लगे।

भेदवाद-अभेदवाद—

उक्त दो मूलभूत विचारधाराओं में से फूटने वाली या उनसे सम्बन्ध रखने वाली भी अनेक विचार धाराएँ प्रवाहित हुईं। किसी ने अभेद को तो अपनाया, पर उसकी व्याप्ति काल और देश पट तक अथवा मात्र कालपट तक रखी। स्वरूप या द्रव्य तक उसे नहीं बढ़ाया। इस विचार धारा में से अनेक द्रव्यों को मानने पर भी उन द्रव्यों की कालिक नित्यता तथा दैशिक व्यापकता के वाद का जन्म हुआ जैसे सांख्य का प्रकृति-पुरुषवाद, दूसरी विचार धारा ने उसकी अपेक्षा भेद का क्षेत्र बढ़ाया जिससे उसने कालिक नित्यता तथा दैशिक व्यापकता मान कर भी स्वरूपतः जड़ द्रव्यों को अधिक संख्या में स्थान दिया जैसे परमाणु, विभुद्रव्यवाद।

अद्वैतमात्र या सन्मात्र को स्पर्श करनेवाली दृष्टि किसी विषय में भेद सहन न कर सकने के कारण अभेदमूलक अनेकवादों का स्थापन करे, यह स्वाभाविक ही है, हुआ भी ऐसा ही। इसी दृष्टि में से कार्य-कारण के अभेदमूलक मात्र सत्कार्यवाद का जन्म हुआ। धर्म-धर्मी, गुण गुणी, आधार-आधेय आदि द्वंद्वों के अभेदवाद भी उसी में से फलित हुए। जब कि द्वैत और भेद को स्पर्श करने वाली दृष्टि ने अनेक विषयों में भेदमूलक ही नानावाद स्थापित किये। उसने कार्य-कारण के भेदमूलक मात्र असत्कार्यवाद को जन्म दिया तथा धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, आधार-आधेय आदि अनेक द्वंद्वों के भेदों को भी मान लिया। इस तरह हम भारतीय तत्त्वचिंतन में देखते हैं कि मौलिक सामान्य और विशेष दृष्टि तथा उनकी अवान्तर सामान्य और विशेष दृष्टियों में से परस्पर विरुद्ध ऐसे अनेक

मतों–दर्शनों का जन्म हुआ; जो अपने विरोधिवाद की आधारभूत भूमिका की सत्यता की कुछ भी परवा न करने के कारण एक दूसरे के प्रहार में ही चरितार्थता मानने लगे।

सद्वाद-असद्वाद–

सद्वाद अद्वैतगामी हो या द्वैतगामी जैसा कि सांख्यादि का, पर वह कार्य-कारण के अभेद मूलक सत्कार्यवाद को बिना माने अपना मूल लक्ष्य सिद्ध ही नहीं कर सकता; जब कि असद्वाद क्षणिकगामी हो जैसे बौद्धों का, स्थिरगामी हो या नित्यगामी हो जैसे वैशेषिक आदि का–पर वह असत्कार्यवाद का स्थापन बिना किये अपना लक्ष्य स्थिर कर ही नहीं सकता। अतएव सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद की पारस्परिक टक्कर हुई। अद्वैतगामी और द्वैतगामी सद्वाद में से जन्मी हुई कूटस्थता जो कालिक नित्यता रूप है और विभुता जो दैशिक व्यापकता-रूप है उनकी–देश और कालकृत निरंश अंशवाद अर्थात् निरंश क्षणवाद के साथ टक्कर हुई, जो कि वस्तुतः सद्दर्शन के विरोधी दर्शन में से फलित होता है।

निर्वचनीय-अनिर्वचनीय वाद–

एक तरफ से सारे विश्व को अखण्ड और एक तत्त्वरूप मानने वाले और दूसरी तरफ से उसे निरंश अंशपुंज मानने वाले–अपने-अपने लक्ष्य की सिद्धि तभी कर सकते थे जब कि वे अपने अभीष्ट तत्त्व को अनिर्वचनीय अर्थात् अनभिलाप्य–शब्दागोचर मानें, क्योंकि शब्द के द्वारा निर्वचन मानने पर न तो अखण्ड सत् तत्त्व की सिद्धि हो सकती है और न निरंश भेदतत्त्व की। निर्वचन करना ही मानों अखण्डता या निरंशता का लोप कर देना है। इस तरह अखण्ड और निरंशवाद में से अनिर्वचनीयवाद आप ही आप फलित हुआ। पर उस वाद के सामने लक्षणवादी वैशेषिक आदि तार्किक हुए, जो ऐसा मानते हैं कि वस्तुमात्र का निर्वचन करना या लक्षण बनाना शक्य ही नहीं बल्कि वास्तविक भी हो सकता है। इसमें से निर्वचनीयत्ववाद का जन्म हुआ और तब अनिर्वचनीय तथा निर्वचनीयवाद आपस में टकराने लगें।

हेतुवाद-अहेतुवाद आदि–

इसी प्रकार कोई मानते थे कि प्रमाण चाहे जो हो पर हेतु अर्थात् तर्क के विना किसी से अन्तिम निश्चय करना भयास्पद है। जब दूसरे कोई मानते थे कि

हेतुवाद स्वतन्त्र बल नहीं रखता। ऐसा बल आगम में ही होने से वही मूर्धन्य प्रमाण है। इसीसे वे दोनों वाद परस्पर टकराते थे। दैवज्ञ कहता था कि सब कुछ दैवाधीन है; पौरुष स्वतंत्ररूप से कुछ कर नहीं सकता। पौरुषवादी ठीक इससे उलटा कहता था कि पौरुष ही स्वतंत्रभाव से कार्य करता है। अतएव वे दोनों वाद एक दूसरे को असत्य मानते रहे। अर्थनय–पदार्थवादी शब्द की और शब्दनय–शाब्दिक अर्थ की परवा न करके परस्पर खण्डन करने में प्रवृत्त थे। कोई अभाव को भाव से पृथक् ही मानता तो दूसरा कोई उसे भाव स्वरूप ही मानता था और वे दोनों भाव से अभाव को पृथक् मानने न मानने के बारे में परस्पर प्रतिपक्ष भाव धारण करते रहे। कोई प्रमाता से प्रमाण और प्रमिति को अत्यन्त भिन्न मानते तो दूसरे कोई उससे उन्हें अभिन्न मानते थे। कोई वर्णाश्रम विहित कर्म मात्र पर भार देकर उसीसे इष्ट प्राप्ति बतलाते तो कोई ज्ञान मात्र से आनन्दाप्ति प्रतिपादन करते जब तीसरे कोई भक्ति को ही परम पद का साधन मानते रहे और वे सभी एक दूसरे का आवेशपूर्वक खण्डन करते रहे। इस तरह तत्त्वज्ञान व आचार के छोटे बड़े अनेक मुद्दों पर परस्पर बिल्कुल विरोधी ऐसे अनेक एकान्त मत प्रचलित हुए।

अनेकान्त दृष्टि से समन्वय–

उन एकान्तों की पारस्परिक वाद-लीला देखकर अनेकान्तदृष्टि के उत्तराधिकारी आचार्यों को विचार आया कि असल में "ये सब वाद जो कि अपनी-अपनी सत्यता का दावा करते हैं वे आपस में इतने लड़ते हैं क्यों? क्या उन सब में कोई तथ्यांश ही नहीं, या सभी में तथ्यांश है, या किसी-किसी में तथ्यांश है, या सभी पूर्ण सत्य है? इस प्रश्न के अन्तर्मुख उत्तर में से उन्हें एक चाबी मिल गई, जिसके द्वारा उन्हें सब विरोधों का समाधान हो गया और पूरे सत्य का दर्शन हुआ। वही चाबी अनेकान्तवाद की भूमिका रूप अनेकान्त दृष्टि है। इस दृष्टि के द्वारा उन्होंने देखा कि प्रत्येक सयुक्तिकवाद अमुक-अमुक दृष्टि से अमुक अमुक सीमा तक सत्य है। फिर भी जब कोई एक वाद दूसरे वाद की आधारभूत विचार-सरणी और उस वाद की सीमा का विचार नहीं करता प्रत्युत अपनी आधारभूत दृष्टि तथा अपने विषय की सीमा में ही सब कुछ मान लेता है, तब उसे किसी भी तरह दूसरे वाद की सत्यता मालूम ही नहीं हो पाती। यही हालत दूसरे विरोधी वाद की भी होती है। ऐसी दशा में न्याय इसी में है कि प्रत्येक वाद को उसी की विचार-सरणी से उसी सीमा तक ही जाँचा जाय और इस जाँच में वह

ठीक निकले तो उसे सत्य का एक भाग मानकर ऐसे सब सत्यांशरूप मणियों को
पूर्ण सत्यरूप विचार-सूत्र में पिरो कर अविरोधी माला बनाई जाय। इसी विचा
जैनाचार्यों को अनेकान्तदृष्टि के आधार पर तत्कालीन सब वादों का समन
करने की ओर प्रेरित किया। उन्होंने सोचा कि जब शुद्ध और निःस्वार्थ चि
वालों में से किन्हीं को एकत्वपर्यवसायी साम्यप्रतीति होती है और किन्हीं को नि
अंश पर्यवसायी भेद प्रतीति होती है तब यह कैसे कहा जाय कि अमुक एक
प्रतीति प्रमाण है और दूसरी नहीं। किसी एक को अप्रमाण मानने पर तु
युक्ति से दोनों प्रतीतियाँ अप्रमाण ही सिद्धि होंगी। इसके सिवाय किसी
प्रतीति को प्रमाण और दूसरी को अप्रमाण मानने वालों को भी अन्त में अप्रम
मानी हुई प्रतीति के विषयरूप सामान्य या विशेष के सार्वजनिक व्यवहार
उपपत्ति तो किसी न किसी तरह करनी ही पड़ती है। यह नहीं कि अप
इष्ट प्रतीति को प्रमाण कहने मात्र से सब शास्त्रीय-लौकिक व्यवहारों की उपप
भी हो जाय। यह भी नहीं कि ऐसे व्यवहारों को उपपन्न बिना किये ही छ
दिया जाय। ब्रह्मैकत्ववादी भेदों को व उनकी प्रतीति को अविद्यामूलक ही
कर उनकी उपपत्ति करेगा, जब कि क्षणिकत्ववादी साम्य या एकत्व को व उस
प्रतीति को ही अविद्यामूलक कह कर ऐसे व्यवहारों की उपपत्ति करेगा।

ऐसा सोचने पर अनेकान्त के प्रकाश में अनेकान्तवादियों को मालूम हु
कि प्रतीति अभेदगामिनी हो या भेदगामिनी, हैं तो सभी वास्तविक। प्रत्ये
प्रतीति की वास्तविकता उसके अपने विषय तक तो है पर जब वह विरुद्ध दिख
देने वाली दूसरी प्रतीति के विषय की अयथार्थता दिखाने लगती है तब वह
भी अवास्तविक बन जाती है। अभेद और भेद की प्रतीतियाँ विरुद्ध इसी
जान पड़ती हैं कि प्रत्येक को पूर्ण प्रमाण मान लिया जाता है। सामान्य अ
विशेष की प्रत्येक प्रतीति स्वविषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण नहीं।
प्रमाण का अंश अवश्य है। वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो ऐसा ही होना चाहि
जिससे कि वे विरुद्ध दिखाई देनेवाली प्रतीतियाँ भी अपने स्थान में रह कर उ
अविरोधीभाव से प्रकाशित कर सकें और वे सब मिल कर वस्तु का पूर्ण स्वर
प्रकाशित करने के कारण प्रमाण मानी जा सकें। इस समन्वय या व्यवस्थागभि
विचार के बल पर उन्होंने समझाया कि सद्-द्वैत और सद्-अद्वैत के बीच को
विरोध नहीं, क्योंकि वस्तु का पूर्णस्वरूप ही अभेद और भेद या सामान्य अ
विशेषात्मक ही है। जैसे हम स्थान, समय रंग, रस, परिमाण आदि का विच
किये बिना ही विशाल जलराशि मात्र का विचार करते हैं तब हमें एक ही ए

मुद्र प्रतीत होता है। पर उसी जलराशि के विचार में जब स्थान, समय आदि
ा विचार दाखिल होता है तब हमें एक अखण्ड समुद्र के स्थान में अनेक छोटे
ड़े समुद्र नज़र आते हैं; यहाँ तक कि अन्त में हमारे ध्यान में जलकण तक भी नहीं
हता उसमें केवल कोई अविभाज्य रूप या रस आदि का अंश ही रह जाता है
ौर अन्त में वह भी शून्यवत् भासित होता है। जलराशि में अखण्ड एक समुद्र
ी बुद्धि भी वास्तविक है और अन्तिम अंश की बुद्धि भी। एक इसलिए वास्त-
वक है कि वह भेदों को अलग अलग रूप से स्पर्श न करके सब को एक साथ
ामान्यरूप से देखती है। स्थान, समय आदि कृत भेद जो एक दूसरे से व्यावृत्त
ं उनको अलग अलग रूप से विषय करनेवाली बुद्धि भी वास्तविक है; क्योंकि
ी भेद वैसे ही हैं। जलराशि एक और अनेक–उभय रूप होने के कारण उसमें
ोनेवाली समुद्रबुद्धि और अंशबुद्धि अपने अपने स्थान में यथार्थ होकर भी कोई
एक बुद्धि पूर्ण स्वरूप को विषय न करने के कारण पूर्ण प्रमाण नहीं है। फिर भी
ोनों मिलकर पूर्ण प्रमाण है। वैसे ही जब हम सारे विश्व को एक मात्र सत्-रूप
े देखें अथवा यह कहिए कि जब हम समस्त भेदों के अन्तर्गत एक मात्र अनु-
ामक सत्ता स्वरूप का विचार करें तब हम कहते हैं कि एक मात्र सत् ही है;
क्योंकि उस सर्वग्राही सत्ता के विचार के समय कोई ऐसे भेद भासित नहीं होते
जो परस्पर में व्यावृत्त हों। उस समय तो सारे भेद समष्टि रूप में या एक मात्र
त्ता रूप में ही भासित होते हैं; और तभी सद् अद्वैत कहलाता है। एक मात्र
ामान्य की प्रतीति के समय सत् शब्द का अर्थ भी इतना विशाल हो जाता है
कि जिसमें कोई शेष नहीं बचता। पर जब हम उस विश्व को–गुणधर्म कृत भेदों
में जो कि परस्पर व्यावृत्त हैं–विभाजित करते हैं, तब वह विश्व एक सत् रूप से
मिटकर अनेक सत् रूप प्रतीत होता है। उस समय सत् शब्द का अर्थ भी उतना
ही छोटा हो जाता है। हम कभी कहते हैं कि कोई सत् जड भी है और कोई
चेतन भी। हम और अधिक भेदों की ओर झुक कर फिर यह भी कहते हैं कि
जडसत् भी अनेक हैं और चेतनसत् भी अनेक हैं। इस तरह जब सर्वग्राही
सामान्य को व्यावर्तक भेदों में विभाजित करके देखते हैं तब हमें नाना सत्
मालूम होते हैं और वही सद् द्वैत है। इस प्रकार एक विश्व में प्रवृत्त होने वाली
सद्-अद्वैत बुद्धि और सद्-द्वैत बुद्धि दोनों अपने अपने विषय में यथार्थ होकर
भी पूर्ण प्रमाण तभी कही जायँगी जब वे दोनों सापेक्षरूप से मिलें। यही सद्-
अद्वैत और सद्द्वैत वाद जो परस्पर विरुद्ध समझे जाते हैं उनका अनेकान्त
दृष्टि के अनुसार समन्वय हुआ।

इसे वृक्ष और वन के दृष्टान्त से भी स्पष्ट किया जा सकता है। जब अनेक परस्पर भिन्न वृक्ष व्यक्तियों को उस उस व्यक्ति रूप से ग्रहण न करके सामूहिक या सामान्य रूप में वनरूप से ग्रहण करते हैं, तब उन सब विशेषों का अभाव नहीं हो जाता। पर वे सब विशेष सामान्यरूप से सामान्य ग्रहण में ही ऐसे लीन हो जाते हैं मानो वे हैं ही नहीं। एक मात्र वन ही वन नज़र आता है यही एक प्रकार का अद्वैत हुआ। फिर कभी हम जब एक-एक वृक्ष को विशेष रूप से समझते हैं तब हमें परस्पर भिन्न व्यक्तियाँ ही व्यक्तियाँ नज़र आती हैं, उस समय विशेष प्रतीति में सामान्य इतना अन्तर्लीन हो जाता है कि मानों वह है नहीं। अब इन दोनों अनुभवों का विश्लेषण करके देखा जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि कोई एक सत्य है और दूसरा असत्य। अपने अपने विषय में दोनों अनुभवों का समुचित समन्वय ही है। क्योंकि इसी में सामान्य और विशेषात्मक वन-वृक्षों का अबाधित अनुभव समा सकता है। यही स्थिति विश्व के सम्बन्ध में सद्-अद्वैत किं वा सद्-द्वैत दृष्टि की भी है।

कालिक, दैशिक और देश-कालातीत सामान्य विशेष के उपर्युक्त अद्वैत-द्वैतवाद के आगे बढ़कर कालिक सामान्य-विशेष के सूचक नित्यत्ववाद और क्षणिकत्ववाद भी हैं। ये दोनों वाद एक दूसरे के विरुद्ध ही जान पड़ते हैं; पर अनेकान्त दृष्टि कहती है कि वस्तुतः उनमें कोई विरोध नहीं। जब हम किसी तत्त्व को तीनों कालों में अखण्ड रूपसे अर्थात् अनादि-अनन्त रूपसे देखेंगे तब वह अखण्ड-प्रवाह रूपमें आदि अन्त रहित होने के कारण नित्य ही है। पर हम जब उस अखण्ड-प्रवाह पतित तत्त्व को छोटे-बड़े आपेक्षिक काल भेदों में विभाजित कर लेते हैं, तब उस काल पर्यन्त स्थायी ऐसा परिमित रूप ही नज़र आता है, जो सादि भी है और सान्त भी। अगर विवक्षित काल इतना छोटा हो जिसका दूसरा हिस्सा बुद्धिशस्त्र कर न सके तो उस काल से परिच्छिन्न वह तत्त्वगत प्रावाहिक अंश सब से छोटा होने के कारण क्षणिक कहलाता है। नित्य और क्षणिक ये दोनों शब्द ठीक एक दूसरे के विरुद्धार्थक हैं। एक अनादि-अनन्त का और दूसरा सादि-सान्त का भाव दरसाता है। फिर भी हम अनेकान्त-दृष्टि के अनुसार समझ सकते हैं कि जो तत्त्व अखण्ड-प्रवाह की अपेक्षा नित्य कहा जा सकता है वही तत्त्व खण्ड-खण्ड क्षणपरिमित परिवर्तनों व पर्यायों की अपेक्षा से क्षणिक भी कहा जा सकता है। एक वाद की आधार-दृष्टि है अनादि-अनन्तता की दृष्टि; जब दूसरे की आधार है सादि-सान्तता की दृष्टि। वस्तु का कालिक पूर्ण स्वरूप अनादि-अनन्तता और सादि सान्तता इन दो अंशों से बनता है।

अतएव दोनों दृष्टियाँ अपने-अपने विषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण तभी बनती हैं जब वे समन्वित हों।

इस समन्वय को दृष्टान्त से भी इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। किसी एक वृक्ष का जीवन-व्यापार मूल से लेकर फल तक में कालक्रम से होनेवाली बीज, मूल, अंकुर, स्कन्ध, शाखा-प्रतिशाखा, पत्र, पुष्प और फल आदि विविध अवस्थाओं में होकर ही प्रवाहित और पूर्ण होता है। जब हम अमुक वस्तु को वृक्षरूप से समझते हैं तब उपर्युक्त सब अवस्थाओं में प्रवाहित होनें वाला पूर्ण जीवन-व्यापार ही अखण्ड रूप से मन में आता है पर जब हम उसी जीवन-व्यापार के परस्पर भिन्न ऐसे क्रमभावी मूल, अंकुर, स्कन्ध आदि एक एक अंश को ग्रहण करते हैं तब वे परिमित काल-लक्षित अंश ही हमारे मन में आते हैं। इस प्रकार हमारा मन कभी तो समूचे जीवन-व्यापार को अखण्ड रूप में स्पर्श करता है और कभी कभी उसे खण्डित रूप में एक-एक अंश के द्वारा। परीक्षण करके देखने से साफ जान पड़ता है कि न तो अखण्ड जीवन-व्यापार ही एक मात्र पूर्ण वस्तु है या काल्पनिक मात्र है और न खण्डित अंश ही पूर्ण वस्तु है या काल्पनिक। भले ही उस अखण्ड में सारे खण्ड और सारे खण्डों में वह एक मात्र अखण्ड समा जाता हो; फिर भी वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो अखण्ड और खण्ड दोनों में ही पर्यवसित होने के कारण दोनों पहलुओं से गृहीत होता है। जैसे वे दोनो पहलू अपनी-अपनी कक्षा में यथार्थ होकर भी पूर्ण तभी बनते हैं जब समन्वित किये जायँ, वैसे ही अनादि-अनन्त काल-प्रवाह रूप वृक्ष का ग्रहण नित्यत्व का व्यञ्जक है और उसके घटक अंशों का ग्रहण अनित्यत्व या क्षणिकत्व का द्योतक है। आधारभूत नित्य प्रवाह के सिवाय न तो अनित्य घटक सम्भव है और न अनित्य घटकों के सिवाय वैसा नित्य प्रवाह ही। अतएव एक-मात्र नित्यत्व को या एक-मात्र अनित्यत्व को वास्तविक कह कर दूसरे विरोधी अंशको अवास्तविक कहना ही नित्य-अनित्य वादों की टक्कर का बीज है; जिसे अनेकान्त दृष्टि हटाती है।

अनेकान्त दृष्टि अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्व वाद की पारस्परिक टक्कर को भी मिटाती है। वह कहती है कि वस्तु का वही रूप प्रतिपाद्य हो सकता है जो संकेत का विषय बन सके। सूक्ष्मतम बुद्धि के द्वारा किया जानेवाला संकेत भी स्थूल अंश को ही विषय कर सकता है। वस्तु के ऐसे अपरिमित भाव हैं जिन्हें संकेत के द्वारा शब्द से प्रतिपादन करना सम्भव नहीं। इस अर्थ में अखण्ड सत् या निरंश क्षण अनिर्वचनीय ही हैं जब कि मध्यवर्ती स्थूल भाव निर्वचनीय भी हो सकते हैं। अतएव समग्र विश्व के या उसके किसी एक तत्त्व

के बारे में जो अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्व के विरोधी प्रवाद हैं वे वस्तुतः अपनी-अपनी कक्षा में यथार्थ होने पर भी प्रमाण तो समूचे रूप में ही हैं।

एक ही वस्तु की भावरूपता और अभावरूपता भी विरुद्ध नहीं। मात्र विधिमुख से या मात्र निषेधमुख से ही वस्तु प्रतीत नहीं होती। दूध, दूध रूप से भी प्रतीत होता है और अदधि या दधिभिन्न रूप से भी। ऐसी दशा में वह भाव-अभाव उभय रूप सिद्ध हो जाता है और एक ही वस्तु में भावत्व या अभावत्व का विरोध प्रतीति के स्वरूप भेद से हट जाता है। इसी तरह धर्म-धर्मी, कार्य-कारण, आधार-आधेय आदि द्वन्द्वों के अभेद और भेद के विरोध का परिहार भी अनेकान्त दृष्टि कर देती है।

जहाँ आप्तत्व और उसके मूल के प्रामाण्य में सन्देह हो वहाँ हेतुवाद के द्वारा परीक्षा पूर्वक ही निर्णय करना क्षेमंकर है; पर जहाँ आप्तत्व में कोई सन्देह नहीं वहाँ हेतुवाद का प्रयोग अनवस्था कारक होने से त्याज्य है। ऐसे स्थान में आगमवाद ही मार्गदर्शक हो सकता है। इस तरह विषय-भेद से या एक ही विषय में प्रतिपाद्य भेद से हेतुवाद और आगमवाद दोनों को अवकाश है। उनमें कोई विरोध नहीं। यही स्थिति दैव और पौरुषवाद की भी है। उनमें कोई विरोध नहीं। जहाँ बुद्धि-पूर्वक पौरुष नहीं, वहाँ की समस्याओं का हल दैववाद कर सकता है; पर पौरुष के बुद्धि पूर्वक प्रयोगस्थल में पौरुषवाद ही स्थान पाता है। इस तरह जुदे जुदे पहलू की अपेक्षा एक ही जीवन में दैव और पौरुष वाद समन्वित किये जा सकते हैं।

कारण में कार्य को केवल सत् या केवल असत् मानने वाले वादों के विरोध का भी परिहार अनेकान्त-दृष्टि सरलता से कर देती है। वह कहती है कि कार्य उपादान में सत् भी है और असत् भी है। कटक बनने के पहले भी सुवर्ण में कटक बनने की शक्ति है, इसलिए उत्पत्ति के पहले भी शक्ति रूप से या कारणाभेद-दृष्टि से कार्य सत् कहा जा सकता है। शक्ति रूप से सत् होने पर भी उत्पादक सामग्री के अभाव में वह कार्य आविर्भूत या उत्पन्न न होने के कारण उपलब्ध नहीं होता, इसलिए वह असत् भी है। तिरोभाव दशा में जब कि कटक उपलब्ध नहीं होता तब भी कुण्डलाकार-धारी सुवर्ण कटक रूप बनने की योग्यता रखता है, इसलिए उस दशा में असत् भी कटक योग्यता की दृष्टिसे सुवर्ण में सत् कहा जा सकता है।

बौद्धोंका केवल परमाणु-पुञ्जवाद और नैयायिकों का अपूर्वावयवी वाद—ये दोनों आपस में टकराते हैं। पर अनेकान्त-दृष्टिने स्कन्ध का—जो कि न केवल

परमाणु-पुञ्ज है और न अनुभव-बाधित अवयवों से भिन्न अपूर्व अवयवी रूप है, स्वीकार करके विरोध का समुचित रूप से परिहार व दोनों वादों का निर्दोष समन्वय कर दिया है। इसी तरह अनेकान्त-दृष्टि ने अनेक विषयों में प्रवर्तमान विरोधी-वादों का समन्वय मध्यस्थ भाव से किया है। ऐसा करते समय अनेकान्त वाद के आस-पास नयवाद और भङ्गवाद आप ही आप फलित हो जाते हैं, क्योंकि जुदे-जुदे पहलू या दृष्टि बिन्दु का पृथक्करण, उनकी विषय मर्यादा का विभाग और उनका एक विषय में यथोचित विन्यास करने ही से अनेकान्त सिद्ध होता है।

अपेक्षा या नय—

मकान किसी एक कोने में पूरा नहीं होता। उसके अनेक कोने भी किसी एक ही दिशा में नहीं होते। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि परस्पर विरुद्ध दिशा वाले एक-एक कोने पर खड़े रहकर किया जाने वाला उस मकान का अवलोकन पूर्ण तो नहीं होता, पर वह अयथार्थ भी नहीं। जुदे-जुदे सम्भवित सभी कोनों पर खड़े रहकर किये जाने वाले सभी सम्भवित अवलोकनों का सार समुच्चय ही उस मकान का पूरा अवलोकन है। प्रत्येक कोणसम्भवी प्रत्यक अवलोकन उस पूर्ण अवलोकन का अनिवार्य अङ्ग है। वैसे ही किसी एक वस्तु या समग्र विश्व का तात्त्विक चिन्तन—दर्शन भी अनेक अपेक्षाओं से निष्पन्न होता हैं। मन की सहज रचना, उस पर पड़ने वाले आगन्तुक संस्कार और चिन्त्य वस्तु का स्वरूप इत्यादि के सम्मेलन से ही अपेक्षा बनती है। ऐसी अपेक्षाएँ अनेक होती हैं; जिनका आश्रय लेकर वस्तु का विचार किया जाता है। विचार को सहारा देने के कारण या विचार स्रोत के उद्गम का आधार बनने के कारण वे ही अपेक्षाएँ दृष्टि-कोण या दृष्टि-बिन्दु भी कही जाती हैं। सम्भवित सभी अपेक्षाओं से—चाहे वे विरुद्ध ही क्यों न दिखाई देती हों—किये जाने वाले चिन्तन व दर्शनों का सारसमुच्चय ही उस विषय का पूर्ण—अनेकान्त दर्शन है। प्रत्येक अपेक्षासम्भवी दर्शन उस पूर्ण दर्शन का एक-एक अङ्ग है जो परस्पर विरुद्ध होकर भी पूर्ण दर्शन में समन्वय पाने के कारण वस्तुतः अविरुद्ध ही है।

जब किसी की मनोवृत्ति विश्व के अन्तर्गत सभी भेदों को—चाहे वे गुण, धर्म या स्वरूप कृत हों या व्यक्तित्वकृत हो—भुलाकर अर्थात् उनकी ओर झुके बिना ही एक मात्र अखण्डता का ही विचार करती है, तब उसे अखण्ड या एक ही विश्व का दर्शन होता है। अभेद की उस भूमिका पर से निष्पन्न होने वाला 'सत्' शब्द के एक मात्र अखण्ड अर्थ का दर्शन ही संग्रह नय है। गुण

धर्म कृत या व्यक्तित्व कृत भेदों की ओर झुकनेवाली मनोवृत्ति से किया जाने-वाला उसी विश्व का दर्शन व्यवहार नय कहलाता है; क्योंकि उसमें लोकसिद्ध व्यवहारों की भूमिका रूप से भेदों का खास स्थान है। इस दर्शन में 'सत्' शब्द की अर्थ मर्यादा अखण्डित न रहकर अनेक खण्डों में विभाजित हो जाती है। वही भेदगामिनी मनोवृत्ति या अपेक्षा—सिर्फ़ कालकृत भेदों की ओर झुक-कर सिर्फ़ वर्तमान का ही कार्यक्षम होने के कारण जब सत् रूप से देखती है और अतीत अनागत का 'सत्' शब्द की अर्थ मर्यादा में से हटा देती है तब उसके द्वारा फलित होने वाला विश्व का दर्शन ऋजुसूत्र नय है। क्योंकि वह अतीत-अनागत के चक्रव्यूह को छोड़कर सिर्फ़ वर्त्तमान की सीधी रेखा पर चलता है।

उपर्युक्त तीनों मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं जो शब्द या शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय विना लिये ही किसी भी वस्तु का चिन्तन करती हैं। अतएव वे तीनों प्रकार के चिन्तन अर्थ नय हैं। पर ऐसी भी मनोवृत्ति होती है जो शब्द के गुण धर्मों का आश्रय लेकर ही अर्थ का विचार करती हैं। अतएव ऐसी मनोवृत्ति से फलित अर्थचिन्तन शब्दनय कहे जाते हैं। शाब्दिक लोग ही मुख्यतया शब्द नय के अधिकारी हैं; क्योंकि उन्हीं के विविध दृष्टि-बिन्दुओं से शब्दनय में विविधता आई है।

जो शाब्दिक सभी शब्दों का अखण्ड अर्थात् अव्युत्पन्न मानते हैं वे व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भेद न मानने पर भी लिङ्ग, पुरुष, काल आदि अन्य प्रकार के शब्दधर्मों के भेद के आधार पर अर्थ का वैविध्य बतलाते हैं। उनका वह अर्थ-भेद का दर्शन शब्द नय या साम्प्रत नय है। प्रत्येक शब्द को व्युत्पत्ति सिद्ध ही मानने वाली मनोवृत्ति से विचार करने वाले शाब्दिक पर्याय अर्थात् एकार्थक समझे जाने वाले शब्दों के अर्थ में भी व्युत्पत्ति भेद से भेद बतलाते हैं। उनका वह शक्र, इन्द्र आदि जैसे पर्याय शब्दों के अर्थ भेद का दर्शन समभिरूढ़ नय कहलाता है। व्युत्पत्ति के भेद से ही नहीं, बल्कि एक ही व्युत्पत्ति से फलित होने वाले अर्थ की मौजूदगी और ग़ैर-मौजूदगी के भेद के कारण से भी जो दर्शन अर्थ भेद मानता है वह एवभूत नय कहलाता है। इन तार्किक छः नयों के अलावा एक नैगम नाम का नय भी है। जिसमें निगम अर्थात् देश रूढ़ि के अनुसार अभेदगामी और भेदगामी सब प्रकार के विचारों का समावेश माना गया है। प्रधानतया ये ही सात नय हैं। पर किसी एक अंश को अर्थात् दृष्टि-कोण को अवलम्बित करके प्रवृत्त होने वाले सब प्रकार के विचार उस-उस अपेक्षा के सूचक नय ही हैं।

शास्त्र में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो नय भी प्रसिद्ध हैं पर वे नय उपर्युक्त सात नयों से अलग नहीं हैं किन्तु उन्हीं का संक्षिप्त वर्गीकरण या भूमिका मात्र हैं। द्रव्य अर्थात् सामान्य, अन्वय, अभेद या एकत्व को विषय करने वाला विचार मार्ग द्रव्यार्थिक नय है। नैगम, संग्रह और व्यवहार–ये तीनों द्रव्यार्थिक ही हैं। इनमें से संग्रह तो शुद्ध अभेद का विचारक होने से शुद्ध या मूल ही द्रव्यार्थिक है जब कि व्यवहार और नैगम की प्रवृत्ति भेदगामी होकर भी किसी न किसी प्रकार के अभेद को भी अवलम्बित करके ही चलती है। इसलिए वे भी द्रव्यार्थिक ही माने गये हैं। अलबत्ता वे संग्रह की तरह शुद्ध न होकर अशुद्ध–मिश्रित ही द्रव्यार्थिक हैं।

पर्याय अर्थात् विशेष, व्यावृत्ति या भेद को ही लक्ष्य करके प्रवृत्त होने वाला विचार पथ पर्यायार्थिक नय है। ऋजुसूत्र आदि बाकी के चारों नय पर्यायार्थिक ही माने गए हैं। अभेद को छोड़कर एक मात्र भेद का विचार ऋजुसूत्र से शुरू होता हैं इसलिए उसी को शास्त्र में पर्यायार्थिक नय की प्रकृति या मूलाधार कहा है। पिछले तीन नय उसी मूलभूत पर्यायार्थिक के एक प्रकार से विस्तारमात्र हैं।

केवल ज्ञान को उपयोगी मान कर उसके आश्रय से प्रवृत्त होनेवाली विचार धारा ज्ञान नय है तो केवल क्रिया के आश्रय से प्रवृत्त होनेवाली विचार धारा क्रिया नय है। नयरूप आधार-स्तम्भों के अपरिमित होने के कारण विश्व का पूर्ण दर्शन–अनेकान्त भी निस्सीम है।

सप्तभंगी—

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं, दृष्टिकोणों या मनोवृत्तियों से जो एक ही तत्त्व के नाना दर्शन फलित होते हैं उन्हीं के आधार पर भंगवाद की सृष्टि खड़ी होती है। जिन दो दर्शनों के विषय ठीक एक दूसरे के बिल्कुल विरोधी पड़ते हों ऐसे दर्शनों का समन्वय बतलाने की दृष्टि से उनके विषयभूत भाव-अभावात्मक दोनों अंशों को लेकर उन पर जो सम्भवित वाक्य–भङ्ग बनाये जाते हैं वही सप्तभंगी है। सप्तभंगी का आधार नयवाद है, और उसका ध्येय तो समन्वय है अर्थात् अनेकान्त कोटि का व्यापक दर्शन कराना है; जैसे किसी भी प्रमाण से जाने हुए पदार्थ का दूसरे को बोध कराने के लिए परार्थ अनुमान अर्थात् अनुमान वाक्य की रचना की जाती है; वैसे ही विरुद्ध अंशों का समन्वय श्रोता को समझाने की दृष्टि से भंग वाक्य की रचना भी की जाती है। इस तरह नयवाद और भंगवाद अनेकान्त दृष्टि के क्षेत्र में आप ही आप फलित हो जाते हैं।

दर्शनान्तर में अनेकान्तवाद—

यह ठीक है कि वैदिक परम्परा के न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों में तथा बौद्ध दर्शन में किसी एक वस्तु के विविध दृष्टियों से निरूपण की पद्धति तथा अनेक पक्षों के समन्वय की दृष्टि[१] भी देखी जाती है। फिर भी प्रत्येक वस्तु और उसके प्रत्येक पहलू पर संभवित समग्र दृष्टि विन्दुओं से विचार करने का आत्यंतिक आग्रह तथा उन समग्र दृष्टि विन्दुओं के एक मात्र समन्वय में ही विचार की परिपूर्णता मानने का दृढ़ आग्रह जैन परंपरा के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता। इसी आग्रह में से जैन तार्किकों ने अनेकान्त, नय और सप्तभंगी वाद का बिल्कुल स्वतंत्र और व्यवस्थित शास्त्र निर्माण किया जो प्रमाण शास्त्र का एक भाग ही बन गया और जिसकी जोड़ का ऐसा छोटा भी ग्रन्थ इतर परंपराओं में नहीं बना। विभज्यवाद और मध्यम मार्ग होते हुए भी बौद्ध परंपरा किसी भी वस्तु में वास्तविक स्थायी अंश देख न सकी उसे मात्र क्षणभंग ही नजर आया। अनेकान्त शब्द[२] से ही अनेकान्त दृष्टि का आश्रय करने पर भी नैयायिक परमाणु, आत्मा आदि को सर्वथा अपरिणामी ही मानने मनवाने की धुन से बच न सके। व्यावहारिक–पारमार्थिक आदि अनेक दृष्टियों का अवलम्बन करते हुए भी वेदान्ती अन्य सब दृष्टियों को ब्रह्मदृष्टि से कम दर्जे की या बिल्कुल ही असत्य मानने मनवाने से बच न सके। इसका एक मात्र कारण यही जान पड़ता है कि उन दर्शनों में व्यापक रूप से अनेकान्त भावना का स्थान न रहा जैसा कि जैन दर्शन में रहा। इसी कारण से जैन दर्शन सब दृष्टियों का समन्वय भी करता है और सभी दृष्टियों को अपने अपने विषय में तुल्य बल व यथार्थ मानता है। भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि तत्त्वज्ञान के प्राचीन मुद्दों पर ही सीमित रहने के कारण वह अनेकान्त दृष्टि और तन्मूलक अनेकान्त व्यवस्थापक शास्त्र पुनरुक्त, चर्वित चर्वण या नवीनता शून्य जान पड़ने का आपाततः सम्भव है फिर भी उस दृष्टि और उस शास्त्र निर्माण के पीछे जो अखण्ड और सजीव सर्वांश सत्य को अपनाने की भावना जैन परम्परा में रही और जो प्रमाण शास्त्र में अवतीर्ण हुई उसका जीवन के समग्र क्षेत्रों में सफल उपयोग होने की पूर्ण योग्यता होने के कारण ही उसे प्रमाण-शास्त्र को जैनाचार्यों की देन कहना अनुपयुक्त नहीं।

[प्रमाणमीमांसा की प्रस्तावना से।

१—उदाहरणार्थ देखो सांख्यप्रवचनभाष्य पृष्ठ २। सिद्धान्त विन्दु पृ० ११६ से। वेदान्तसार पृ० २५। तर्क संग्रह दीपिका पृ० १७५। महावग्ग ६. ३१। प्रमाणमीमांसाटिप्पण पृ० ६१ से   २—न्यायभाष्य २. १. १८.

मण्डल की ओरसे

जैन साहित्य सम्मेलन—

सूचित करते खेद है कि जैन साहित्य संमेलन अक्टूबर मासमें हो न सका। अभी तक कुछ एक अपवादों को बाद कर विद्वानों ने अपने प्रतिनिधि पत्र जो यहां से भेजे गये हैं, भर कर भेजे नहीं हैं। सम्मेलनमें पढ़नेके लिये निबन्ध भी अभी हमें नगण्य ही मिले हैं। ऐसी स्थितिमें अब यह निश्चय किया गया है कि संमेलन मार्च १९४९ में ही किया जाय। विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे अपने लेख कृपा करके दिसम्बर १९४८ के अन्त तक अवश्य भेजदें। और अपने अपने प्रतिनिधि पत्र भी भेजदें।

दलसुख मालवणिया

प्राप्तिस्वीकार

१९४८ के नये 'आजीवन सदस्य' (Life Member)

(१) पोषक (Patron)

१०००) श्री प्रवीणचन्द्र हेमचन्द्र, बंबई (श्री नरोत्तमदास हेमचन्द्रकी स्मृतिमें)

(२) सहायक (Ordinary Life-member)

५००) श्री चांदमलजी वांठिया, कलकत्ता
* १००) श्री महालचन्द्रजी बोथरा, कलकत्ता
* १००) श्री जयन्तिलाल मणिलाल घूपेलिया, बंबई
† २००) श्री रतीभाई साराभाई झवेरी, बंबई
† २५०) श्री डो० चीमनलाल नेमचन्द्र श्रोफ, बंबई
५०१) श्री कलकत्ता जैन श्वे० स्थानकवासी (गुजराती) संघ
५०१) वोरा भगवान्दास त्रिभोवनदास, कलकत्ता

१९४८ के नये 'साधारण सदस्य' (Ordinary-members)

६०) श्री हुलासचन्द्र गार्ग, देहरादून
६०) श्री प्रकाशचन्द्र जैन, देहरादून

सहायताखाते—

४०) बाबू ज्योतिप्रसादजी जैन, कानपूर
२४००) श्री कलकत्ता श्वे० स्था० (गुजराती) संघ से शिक्षणकार्य में

निवेदक—
मन्त्री
श्री जैन संस्कृति संशोधन मंडल।

---

* पांच वर्ष में ५००) पूरा कर देने का वचन।
† अगले वर्ष में ५००) पूरा कर देने का वचन
नोट:—इस 'प्राप्तिस्वीकार' में सम्मेलन के लिये दिये गये रुपये शामिल नहीं है।

बनारस हिन्दू यनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

पत्रिका नं० १७

जैन-आगम

लेखक

पं० श्री दलसुख मालवणिया

जैनदर्शनाध्यापक, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

'सच्चं लोगम्मि सारभूयं'

'TRUTH ALONE MATTERS'

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY

PARSHVANATH VIDYASHRAMA

P. O. Benares Hindu University.

Annas Ten

पण्डित श्री सुखलालजी का सन्मान

आचार्य श्री विजयधर्म सूरि के स्वर्गवास की रजतजयन्ती का उत्सव भावनगर में ता० २९-९-४७ को हुआ। उक्त अवसर पर पण्डित श्री सुखलालजी को उनकी जैन-साहित्यिक कृतियों की बहुमूल्यता मानकर के 'श्री विजयधर्म सूरि जैन-साहित्यिक सुवर्ण चन्द्रक' अर्पण किया गया। उक्त अवसर पर श्री सुशील ने ठीक ही कहा है कि "पण्डित श्री सुखलाल जी को चन्द्रक अर्पण करके हम पण्डितजी की नहीं किन्तु चन्द्रक की प्रतिष्ठा में वृद्धि कर रहे हैं। पण्डित जी तो अपने पाण्डित्य के कारण स्वयं प्रतिष्ठित हैं ही।" पण्डित श्री बेचरदासजी ने उनकी विद्वत्ता के विषय में कहा "जब हम पण्डितजी की विद्वत्ता का विचार करते हैं तब हमें कहना पड़ता है कि उनके जैसा तटस्थ और स्वतन्त्र विचारक, समर्थ समन्वयकार और निर्भय कथन करने वाला खरा कोई विद्वान् है ही नहीं।" प्राध्यापक मोदीने कहा कि "जब पण्डित जी की गहरी विद्वत्ता का विचार करते हैं, तब प्रतीत होता है कि वे भारतवर्ष में ही नहीं किन्तु समस्त विश्व में जैन दर्शन के अद्वितीय विद्वान् हैं।" भावनगर के निवृत्त न्यायाधिकारी श्री जीवराज भाई दोशी ने कहा कि "पण्डित जी के समान दूसरा दार्शनिक समन्वयकार कोई नहीं है। उनकी विद्वत्ता, सत्यशोधन की वृत्ति और शुद्ध चरित्र के लिये मुझे पर्याप्त आदर है।" श्री पद्मनाभजी जैन ने कहा कि "पण्डित जी केवल पण्डित ही नहीं हैं किन्तु समस्त समाज को नेतृत्व प्रदान करने में भी समर्थ हैं। वे केवल शास्त्रीय विषयों को ही समझते हैं ऐसी बात नहीं है किन्तु समकालीन सभी प्रश्नों को भी बराबर समझते हैं और उन्हें सुलझाने का सामर्थ्य रखते हैं। ऐसा दूसरा विद्वान् दुर्लभ है। वे सदा कर्मठ हैं और अकर्मण्यता को पास फटकने भी नहीं देते।" श्री रतीलाल देसाई ने कहा कि "पण्डित जी जीवनक्षेत्र के प्रत्येक कोने से इतने परिचित हैं कि उनके साथ बात-चीत करने वाले को कभी यह नहीं लगता कि उनको चक्षु नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों उन्होंने चर्मचक्षुओं को गवाँ कर दिव्य चक्षु प्राप्त की हैं। प्रभु महावीर की 'समयं गोयम ! मा पमायए' इस आज्ञा को मानों चरितार्थ करते हों ऐसा ही उनका अप्रमत्त जीवन है।" उपसंहार में प्रमुख श्री छोटालाल परिख ने भी पण्डित जी के गुणों का वर्णन किया और कहा कि सत्यभक्ति और ज्ञान की परम उपासना इसी को जीवन का परमादर्श मान कर पण्डितजी एक विद्यार्थी-सा जीवन व्यतीत करते हुए उसी आदर्श को मूर्तरूप दे रहे हैं। इसी में उनके जीवन की कृतार्थता है।"

पण्डित जी ने जब यह सब प्रशंसा सुनी तब उनका हृदय भारी हो गया। इस भार को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि, "यहाँ मेरे विषय में जो कुछ

जैन-आगम

लेखक—श्री दलसुखभाई मालवणिया

जैनदर्शनाध्यापक, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

(१) व्याख्या

पौरुषेयता-अपौरुषेयता

ब्राह्मण-धर्म में वेद—श्रुति का और बौद्धधर्म में त्रिपिटक का जैसा महत्त्व है वैसा ही जैन धर्म में श्रुत—आगम—गणिपिटक का महत्त्व है। ब्राह्मण दार्शनिक मीमांसकों ने वेदविद्या को सनातन मानकर अपौरुषेय बताया और नैयायिक-वैशेषिक आदि दार्शनिकों ने उसे ईश्वर-प्रणीत बताया किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो दोनों के मत से यही फलित होता है कि वेदरचना का समय अज्ञात ही है। इतिहास उसका पता नहीं लगा सकता। इसके विपरीत बौद्ध त्रिपिटक और जैन गणिपिटक पौरुषेय हैं, ईश्वरप्रणीत नहीं हैं और उनकी रचना के काल का भी इतिहास को पता है।

मनुष्य पुराणप्रिय है। यह भी एक कारण था कि वेद अपौरुषेय माना गया। जैनों के सामने भी यह आक्षेप हुआ होगा कि तुम्हारे आगम तो नये हैं, उसका कोई प्राचीन मूलाधार नहीं। उत्तर दिया गया कि द्वादशांगभूत गणिपिटक कभी नहीं था ऐसा भी नहीं, और कभी नहीं है ऐसा भी नहीं, और कभी नहीं होगा ऐसा भी नहीं। वह तो था, है और होगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है[1]।

जब यह उत्तर दिया गया तो उसके पीछे तर्क यह था कि पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो सत्य एक ही है, सिद्धान्त एक ही है। नाना देश, काल और पुरुष की दृष्टि से उस सत्य का आविर्भाव नाना प्रकार से होता है किन्तु उन आविर्भावों में एक ही सनातन सत्य अनुस्यूत है। उस सनातन सत्य की ओर

१. देखो समवायांगगत द्वादशांगपरिचय। नन्दी० सू० ५७।

दृष्टि दी जाय और आविर्भाव के प्रकारों की उपेक्षा की जाय तब यही कहना होगा कि जो भी रागद्वेष का जय करके–जिन होकर उपदेश देगा वह आचारका सनातन सत्य सामायिक–समभाव–विश्ववात्सल्य–विश्वमैत्री का तथा विचार का सनातन सत्य–स्याद्वाद–अनेकान्तवाद–विभज्यवाद का ही उपदेश देगा। ऐसा कोई काल नहीं जब उक्त सत्य का अभाव हो। अतएव जैन आगम को इस दृष्टि से अनादि अनन्त कहा जाता है, वेद की तरह अपौरुषेय कहा जाता है।

एक जगह कहा गया है[1] कि ऋषभादि तीर्थङ्करों की शरीर-सम्पत्ति और वर्धमान की शरीरसम्पत्ति में अत्यन्त वैलक्षण्य होने पर भी इन सभी के धृति, संघयण और शरीररचना का विचार किया जाय तथा उनकी आन्तरिक योग्यता–केवल ज्ञान-का विचार किया जाय तो उन सभी की योग्यता में कोई भेद न होने के कारण उनके उपदेश में कोई भेद नहीं हो सकता। और दूसरी बात यह भी है कि संसार के प्रज्ञापनीय भाव तो अनादि अनन्त हैं। अतएव जब कभी सम्यग्ज्ञाता उनका प्ररूपण करेगा तो कालभेद से प्ररूपणा में भेद नहीं हो सकता। इसीलिए कहा जाता है कि द्वादशांगी अनादि अनंत है। सभी तीर्थङ्करों के उपदेश की एकता का उदाहरण शास्त्र में भी मिलता है। आचारांग सूत्र[2] में कहा गया है कि "जो अरिहंत प्रथम हो गए, जो अभी वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे उन सभी का एक ही उपदेश है कि किसी भी प्राण, जीव, भूत और सत्त्व की हत्या मत करो, उनके ऊपर अपनी सत्ता मत जमाओ, उनको गुलाम मत बनाओ और उनको मत सताओ, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और विवेकी पुरुषों ने बताया हुआ है।"

किन्तु यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय कि सत्य का आविर्भाव किस रूप में हुआ, किसने किया, कब किया और कैसे किया, इत्यादि, तब जैनागम सोत्पत्तिक सिद्ध होते हैं और इसी दृष्टि से पौरुषेय भी। अतएव कहा गया कि[3] "तप-नियम-ज्ञानमय वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्त ज्ञानी केवली

---

१ बृहत्कल्पभाष्य २०२–२०३।

२. आचारांग-अ० ४ सू० १२६। सूत्रकृतांग २–१–१५। २–२–४१।

३. "तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए ॥८९॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा ॥९०॥"—आवश्यकनिर्युक्ति।

भगवान् भव्य जनों के विबोध के लिए ज्ञान-कुसुम की वृष्टि करते हैं। गण-धर अपने वुद्धिपट में उन सकल कुसुमों को झेल कर प्रवचन माला गूंथते हैं।"

इस प्रकार जैन-आगम के विषय में पौरुषेयता और अपौरुषेयता का सुन्दर समन्वय सहज ही सिद्ध होता है और आचार्य श्री हेमचन्द्र का—

"आदीपमाव्योम समस्वभावं
स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु" [१]

यह विचार चरितार्थ होता है।

श्रोता और वक्ता की दृष्टि से व्याख्या

जैन-धर्म में बाह्य रूपरंग की अपेक्षा आन्तरिक रूपरंग को अधिक महत्त्व है. यही कारण है कि जैन धर्म को अध्यात्मप्रधान धर्मों में उच्च स्थान प्राप्त है। किसी भी वस्तु की अच्छाई की जाँच उसकी आध्यात्मिक योग्यता के नाप पर ही निर्भर है। यही कारण है कि निश्चय दृष्टि से तथाकथित जैनागम भी मिथ्याश्रुत में गिना जाता है, यदि उसका उपयोग किसी दुष्ट ने अपने दुर्गुणों की वृद्धि में किया हो और वेद भी सम्यग्श्रुत में गिना जाता है, यदि किसी मुमुक्षु ने उसका उपयोग मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करने में किया हो। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो भगवान् महावीर के उपदेश का जो सार-संग्रह हुआ है वही जैनागम हैं। [२]

तात्पर्य यह है कि निश्चयदृष्टिसे आगम की व्याख्या में श्रोता की प्रधानता है और व्यवहारदृष्टिसे आगम की व्याख्या में वक्ता की प्रधानता है।

शब्द तो निर्जीव हैं और सभी सांकेतिक अर्थ के प्रतिपादन की योग्यता रखने के कारण सर्वार्थक भी। ऐसी स्थिति में निश्चयदृष्टिसे देखा जाय तो शब्द का प्रामाण्य या अप्रामाण्य स्वतः नहीं किन्तु उस शब्द के प्रयोक्ता के गुण या दोष के कारण शब्द में प्रामाण्य या अप्रामाण्य होता है। इतना ही नहीं किन्तु श्रोता या पाठक के गुणदोष के कारण भी प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निर्णय करना होगा। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि वक्ता और श्रोता दोनों की दृष्टिसे आगम का विचार किया जाय। जैनों ने इन दोनों दृष्टियों से जो विचार किया है उसे यहां दिया जाता है:—

---

१. अन्ययोगव्यवच्छेदिका–५।

२. देखो नंदी सूत्र ४०, ४१। बृहत्० गा० ८८।

शास्त्र की रचना निष्प्रयोजन नहीं किन्तु श्रोता को अभ्युदय और श्रेयस्कर मार्ग का प्रदर्शन कराने की दृष्टि से है, यह सर्वसम्मत है। शास्त्रकी उपकारकता या अनुपकारकता उसके शब्दों पर निर्भर नहीं किन्तु उन शास्त्रवचन को ग्रहण करने वाले की योग्यता पर भी है। यही कारण है कि एक ही शास्त्रवचन के नाना और परस्पर-विरोधी अर्थ निकाल कर दार्शनिक लोग नाना मतवाद खड़े कर देते हैं। एक भगवद्गीता या एक ही ब्रह्मसूत्र कितने विरोधी वादों का मूल बना हुआ है ? अतः श्रोता की दृष्टिसे किसी एक ग्रंथ को नियमतः सम्यक् या मिथ्या कहना, किसी एक ग्रंथ को ही जिनागम कहना भ्रमजनक होगा। यही सोचकर जिनागम के मूल ध्येय—जीवों की मुक्ति की पूर्ति-जिस किसी शास्त्रसे होती है, वे सब सम्यक् हैं, वे सब आगम हैं—ऐसा व्यापक दृष्टिबिन्दु जैनोंने स्वीकार किया है। इसके अनुसार वेदादि सब शास्त्र जैनों को मान्य हैं। जिस जीवकी श्रद्धा सम्यक् है उसके सामने कोई भी ग्रंथ आ जाय वह उसका उपयोग मोक्षमार्ग को प्रशस्त बनाने मे ही करेगा अतएव उसके लिए सब शास्त्र प्रामाणिक हैं, सम्यक् हैं। किन्तु जिस जीव की श्रद्धा ही विपरीत है अर्थात् जिसे मुक्ति की कामना ही नहीं, जिसे संसार में ही सुख का भंडार नजर आता है उसके लिए वेदादि तो क्या तथाकथित जैन-आगम भी मिथ्या हैं, अप्रमाण हैं।

आगम की इस व्याख्या में सत्य का आग्रह है, साम्प्रदायिक कदाग्रह नहीं।

अब वक्ता की दृष्टिसे जो आगम की व्याख्या की गई है उसका विचार करें—व्यवहारदृष्टि से जितने शास्त्र जैनागमान्तर्गत हैं उनको यह व्याख्या व्याप्त करती है। अर्थात् जैन लोग वेदादि से पृथक् ऐसा जो अपना प्रामाणिक शास्त्र मानते हैं वे सभी लक्ष्यान्तर्गत हैं।

आगम की सामान्य व्याख्या तो इतनी ही है कि आप्त का वचन आगम है[1]। जैनसम्मत आप्त कौन हैं ? इस की व्याख्या में कहा गया है कि जिसने राग और द्वेष को जीत लिया है, ऐसे तीर्थंकर—जिन-सर्वज्ञ भगवान् आप्त हैं अर्थात् जिनोपदेश ही जैनागम है[2]। उसमें वक्ता के साक्षात् दर्शन और वीतरागता के कारण दोष की संभावना नहीं, पूर्वापर विरोध नहीं और युक्तिबाध

---

१. आप्तोपदेशः शब्दः—न्यायसूत्र १, १, ७। तत्त्वार्थभाष्य १, २०।

२. नंदीसूत्र ४०।

भी नहीं। अतएव मुख्यरूपसे जिनों का उपदेश जैनागम प्रमाण माना जाता है और गौणरूपसे तदनुसारी कुछ शास्त्र।

प्रश्न होता है कि जैनागम के नाम से द्वादशांगी आदि शास्त्र प्रसिद्ध हैं, क्या वे जिनों का साक्षात् उपदेश है? अर्थात् क्या जिनों ने उनको ग्रन्थबद्ध किया था?

इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि अभी उपलब्ध जो आगम हैं वे स्वयं गणधरग्रथित आगमों की संकलना है। यहाँ जैनों की तात्त्विक मान्यता क्या है उसी को दिखा कर उपलब्ध जैनागम के विषय में आगे विशेष विचार किया जायगा।

जैन अनुश्रुति उक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देती है—जिन भगवान् उपदेश देकर-तत्त्व और आचार के मूल सिद्धान्त का निर्देश करके कृत-कृत्य हो जाते हैं। उस उपदेश को जैसा कि पूर्वोक्त रूपक में बताया गया है, गणधर या विशिष्ट प्रकार के साधक ग्रंथ का रूप देते हैं। फलितार्थ यह है कि ग्रन्थबद्ध उपदेशका जो तात्पर्यार्थ है उसके प्रणेता जिन—वीतराग—तीर्थंकर हैं किन्तु जिस रूपमें वह उपदेश ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध हुआ उस शब्दरूपके प्रणेता गणधर ही हैं[1]। जैनागम तीर्थंकर प्रणीत[2] कहा जाता है इसका मतलब यह है कि ग्रन्थार्थ प्रणेता वे थे, सूत्रकार नहीं।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूत्र या ग्रंथ रूप में उपस्थित गणधरप्रणीत जैनागम का प्रामाण्य गणधरकृत होने मात्र से नहीं किन्तु उसके अर्थ के प्रणेता तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वार्थसाक्षात्कारित्व के कारण ही है।

जैन-श्रुति के अनुसार तीर्थंकर के समान अन्य प्रत्येकबुद्धोक्त आगम भी प्रमाण हैं[3]।

---

१. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तेइ॥ १९२॥ आव० नि०।

२. नन्दीसूत्र–४०।

३. "सुत्तं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च॥" मूलाचार-५-८०। जयधवला पृ० १५३। ओघनिर्युक्तिटीका पृ० ३।

जैन परंपरा के अनुसार सिर्फ द्वादशांगी आगमान्तर्गत नहीं क्योंकि गणधर कृत द्वादशांगी के अतिरिक्त अंगबाह्य रूप अन्यशास्त्र भी आगमरूप से मान्य हैं और वे गणधरकृत नहीं क्योंकि गणधर सिर्फ द्वादशांगी की ही रचना करते हैं, ऐसी अनुश्रुति है। अंगबाह्यरूप से प्रसिद्ध शास्त्रकी रचना अन्य स्थविर करते हैं[1]।

ऐसे स्थविर दो प्रकारके होते हैं—संपूर्णश्रुतज्ञानी और दशपूर्वी सं। पूर्णश्रुतज्ञानी अर्थात् चतुर्दशपूर्वी[2] या श्रुतकेवली गणधरप्रणीत संपूर्ण द्वादशांगीरूप जिनागम के सूत्र और अर्थ के विषय में विशेषतः निपुण होते हैं। अतएव उनकी ऐसी योग्यता मान्य है कि वे जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे, उसका जिनागम के साथ कुछ भी विरोध नहीं हो सकता। जिनोक्त विषयों का संक्षेप या विस्तार करके तत्कालीन समाज के अनुकूल ग्रन्थ-रचना करना ही उनका प्रयोजन होता है। अतएव ऐसे ग्रंथों को सहज ही में संघ ने जिनागमान्तर्गत कर लिए हैं। इनका प्रामाण्य स्वतन्त्रभाव से नहीं किन्तु गणधरप्रणीत आगम के साथ अविसंवाद-प्रयुक्त है।

संपूर्ण श्रुतज्ञान जिसने हस्तगत किया हो उसका केवली के वचन के साथ विरोध न होने में एक यह भी दलील दी जाती है कि सभी पदार्थ तो वचनगोचर होने की योग्यता नहीं रखते। संपूर्ण ज्ञेय का कुछ अंश ही तीर्थंकर के वचन का गोचर हो सकता है[3]। उन वचनरूप द्रव्यागम श्रुतज्ञान को जो संपूर्ण हस्तगत कर लेता है वही तो श्रुतकेवली होता है अतएव जिस बात को तीर्थंकर ने कही थी उसको श्रुतकेवली भी कह सकता है[4]। इस दृष्टि से केवली और श्रुतकेवली में कोई अन्तर न होने के कारण दोनों का प्रामाण्य समानरूप से है।

कालक्रम से वीरनि० १७० वर्ष के बाद, मतान्तर से १६२ वर्ष के बाद, जैन संघ में उक्त श्रुतकेवली का भी अभाव हो गया और सिर्फ दशपूर्वधर ही रह गये

---

१. विशेषावश्यकभाष्य गा० ५५०। बृहत्कल्पभाष्य गा० १४४। तत्त्वार्थभा० १-२०। सर्वार्थसिद्धि १-२०।

२. जैनागम के पाठ्यक्रम में बारहवें अंग के अंशभूत चतुर्दश पूर्व को उसकी गहनताके कारण अन्तिम स्थान प्राप्त हैं अतएव चतुर्दशपूर्वी का मतलब है 'संपूर्णश्रुतधर। जैनानुश्रुति के अनुसार यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु अन्तिम चतुर्दशधर थे। उनके पास स्थूलभद्र ने चौदहों पूर्वों का पठन किया किन्तु भद्रबाहु की आज्ञा के अनुसार वे दशपूर्व ही अन्य को पढ़ा सकते थे। अतएव उनके बाद दशपूर्वी हुए। तित्थोगालीय ७४२। आवश्यक चूर्णि भा० २, पृ० १८७।

३. बृहत्कल्पभाष्य गा० ९६४।

४. वही ९६३, ९६६।

तब उनकी विशेष योग्यता को ध्यान में रख कर जैनसंघ ने दशपूर्वधर ग्रथित ग्रन्थों को भी आगम में समाविष्ट कर लिया। इन ग्रन्थों का भी प्रामाण्य स्वतन्त्र भाव से नहीं किन्तु गणधरप्रणीत आगम के साथ अविरोधप्रयुक्त है।

जैनों की मान्यता है कि चतुर्दशपूर्वधर और दशपूर्वधर वे ही साधक हो सकते हैं जिनमें नियमतः सम्यग्दर्शन होता है–(बृहत्–१३२) अतएव उनके ग्रन्थों में आगमविरोधी बातों की संभावना ही नहीं। यही कारण है कि उनके ग्रंथ भी कालक्रम से आगमान्तर्गत कर लिये गये हैं।

आगे चलकर ऐसे कई आदेश जिनका समर्थन किसी शास्त्र से नहीं होता है किन्तु जो स्थविरों ने अपनी प्रतिभा के बलसे किसी विषय में दी हुई संमति मात्र है–उनका समावेश भी अंगबाह्य आगम में कर लिया गया है। इतना ही नहीं, कुछ मुक्तकों को भी उसी में स्थान प्राप्त है।[1]

आदेश और मुक्तक आगमान्तर्गत हैं कि नहीं इसके विषय में दिगम्बर परंपरा मौन है किन्तु गणधर, प्रत्येकबुद्ध, चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वीग्रथित सभी शास्त्र आगमान्तर्गत हैं इस विषय में दोनों का ऐकमत्य है।

इस चर्चा से यह तो स्पष्ट ही है कि पारमार्थिकदृष्टि से सत्य का आविर्भाव निर्जीव शब्द में नहीं किन्तु सजीव आत्मा में होता है अतएव किसी पुस्तक के पन्ने का महत्त्व तब तक ही है जब तक वह आत्मोन्नतिका साधन बन सके। इस दृष्टि से संसार का समस्त साहित्य जैनों को उपादेय हो सकता है क्यों कि योग्य और विवेकी आत्मा के लिए अपने काम की चीज कहीं से भी खोज लेना आसान है। किन्तु अविवेकी और अयोग्य के लिए यही मार्ग खतरे से खाली नहीं। इसी लिए जैन ऋषियों ने विश्वसाहित्य में से चुने हुए अंश को ही जैनों के लिए व्यवहार में उपादेय बताया है और उसी को जैनागम में स्थान प्राप्त है।

चुनाव का मूलसिद्धान्त यह है कि उसी विषय का उपदेश उपादेय हो सकता है जिसे वक्ता ने यथार्थ रूप में देखा हो, इतना ही नहीं किन्तु यथार्थ रूप में कहा भी हो। ऐसी कोई भी बात प्रमाण नहीं मानी जा सकती जिसका मूल उपर्युक्त उपदेश म न हो या जो उससे विसंगत हो।

जो यथार्थदर्शी नहीं हैं किन्तु यथार्थ श्रोता (श्रुतकेवली-दशपूर्वी) हैं उनकी भी वही बात प्रमाण मानी जाती है जो उन्होंने यथार्थदर्शी से साक्षात्

१ बृहत्० १४४ और उसकी पादटीप। विशेषा० गा० ५५०।

या परंपरा से सुनी है, अश्रुत कहने का उनका अधिकार नहीं। तात्पर्य इतना ही है कि कोई भी बात तभी प्रमाण मानी जाती है, यदि उसका यथार्थ अनुभव-यथार्थ दर्शन किसी न किसी को हुआ हो। आगम वही प्रमाण है जो प्रत्यक्षमूलक है। आगमप्रामाण्य के इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्वोक्त आदेश आगमान्तर्गत नहीं हो सकते।

दिगम्बरों ने तो अमुक समय के बाद तीर्थंकरप्रणीत आगम का सर्वथा लोप ही माना इसलिए आदेशों को आगमान्तर्गत करने की उनको आवश्यकता ही नहीं हुई किन्तु श्वेताम्बरों ने आगमों का संकलन करके यथाशक्य सुरक्षित रखने का जब प्रयत्न किया तब प्रतीत होता है कि ऐसी बहुत-सी बातें उन्हें मालूम हुईं जो पूर्वाचार्यों से श्रुतिपरंपरा से आई हुई तो थीं किन्तु जिनका मूलाधार तीर्थंकरों के उपदेशों में नहीं था, ऐसी बातों को भी सुरक्षा की दृष्टि से आगम में स्थान दिया गया और उन्हें आदेश और मुक्तक कह कर के उनका अन्य प्रकार के आगम से पार्थक्य भी सूचित किया।

(२) सुरक्षा में बाधाएँ

ऋग्वेदादि वेदों की सुरक्षा भारतीयों का अद्‌भुत पराक्रम है। आज भी भारतवर्ष में ऐसे सैकड़ों ब्राह्मण वेदपाठी मिलेंगे जो आदिसे अंत तक वेदों का शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं। उनको वेद पुस्तक की आवश्यकता नहीं। वेद के अर्थ की परंपरा उनके पास नहीं किन्तु वेदपाठ की परंपरा तो अवश्य है।

जैनों ने भी अपने आगम ग्रन्थों को सुरक्षित रखने का वैसा ही प्रबल प्रयत्न भूतकाल में किया है किन्तु जिस रूप में भगवान् के उपदेश को गणधरों ने ग्रथित किया था वह रूप आज हमारे पास नहीं। उसकी भाषा में वह प्राकृत होने के कारण परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है अतः ब्राह्मणों की तरह जैनाचार्य और उपाध्याय अंग ग्रन्थों की अक्षरशः सुरक्षा नहीं कर सके हैं। इतना ही नहीं किन्तु कई सम्पूर्ण ग्रन्थों को भूल चुके हैं और कई ग्रन्थों की अवस्था विकृत कर दी है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अंगों का अधिकांश जो आज उपलब्ध है वह भगवान् के उपदेश से अधिक निकट है। उसमें परिवर्तन और परिवर्धन हुआ है किन्तु समूचा नया ही मन-गढ़न्त है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जैन संघ ने उस संपूर्ण श्रुत को बचाने का बार-बार जो प्रयत्न किया है उसका साक्षी जो इतिहास है उसे मिटाया नहीं जा सकता।

भूतकाल में जो बाधाएं जैनश्रुत के नाश में कारण हुईं, क्या वे वेद का नाश नहीं कर सकती थीं ? क्या कारण है कि जैनश्रुत से भी प्राचीन वेद तो सुरक्षित रह सका और जैनश्रुत संपूर्ण नहीं तो अधिकांश नष्ट हो गया ? इन प्रश्नों का उत्तर सहज ही है।

वेद की सुरक्षा में दोनों प्रकार की वंशपरंपराओं ने सहकार दिया है। जन्मवंश की अपेक्षा पिता ने पुत्र को और उसने अपने पुत्र को तथा विद्यावंश की अपेक्षा गुरु ने शिष्य को और उसने अपने शिष्य को वेद सिखाकर वेदपाठ की परंपरा अव्यवहित गति से चालू रखी है किन्तु जैनागम की रक्षा में जन्मवंश को कोई स्थान ही नहीं। पिता अपने पुत्र को नहीं किन्तु अपने शिष्य को ही पढ़ाता है। अतएव केवल विद्यावंश की अपेक्षा से ही जैनश्रुत की परंपरा को जीवित रखने का प्रयत्न किया गया है। यही कमी जैनश्रुत की अव्यवस्था में कारण हुई है। ब्राह्मणों को अपना सुशिक्षित पुत्र और वैसा ही सुशिक्षित ब्राह्मण शिष्य प्राप्त होने में कोई कठिनाई नहीं किन्तु जैनश्रमण के लिए अपना सुशिक्षित पुत्र जैनश्रुत का अधिकारी नहीं यदि वह श्रमण नहीं, और अशिक्षित भी श्रमण, पुत्र न होने पर भी यदि शिष्य हो तो वही श्रुत का अधिकारी हो जाता है। वेद की सुरक्षा एक वर्ण विशेष से हुई है जिसका स्वार्थ उसकी सुरक्षा में ही था। जैनश्रुत की रक्षा वैसे किसी वर्णविशेष के अधीन नहीं किन्तु चतुर्वर्ण में से कोई भी मनुष्य यदि जैनश्रमण हो जाता है तो वही जैन श्रुत का अधिकारी हो जाता है। वेद का अधिकारी ब्राह्मण अधिकार पाकर उससे बरी नहीं हो सकता अर्थात् उसके लिए जीवन को प्रथमावस्था में नियमतः वेदाध्ययन आवश्यक था अन्यथा ब्राह्मण समाज में उसका कोई स्थान नहीं था। इसके विपरीत जैन श्रमण को जैनश्रुत का अधिकार मिल जाता है किन्तु कई कारणों से वह उस अधिकार के उपभोग में असमर्थ ही रहता है। ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन सर्वस्व था किन्तु जैन श्रमण के लिए आचार-सदाचार ही सर्वस्व है। अतएव कोई मन्दबुद्धि शिष्य संपूर्ण श्रुत का पाठ न भी कर सके तब भी उसके मोक्ष में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं थी और ऐहिक जीवन भी निर्बाध रूप से सदाचार के बल से व्यतीत हो सकता था। जैन सूत्रों का दैनिक क्रियाओं में विशेष उपयोग भी नहीं। एक सामायिक पद मात्र से भी मोक्षमार्ग सुगम हो जाने की शक्यता हो वहां विरले ही संपूर्ण श्रुतधर होने का प्रयत्न करें तो क्या आश्चर्य ? अधिकांश वैदिक सूक्तों का उपयोग अनेक प्रकार के क्रियाकाण्डों में होता है तब कुछ ही जैनसूत्रों का उपयोग श्रमण के लिए अपने दैनिक जीवन में है। शुद्ध ज्ञान-विज्ञान का रस हो तो

जैनागम-समुद्र में मग्न होने की संभावना है अन्यथा आगम का अधिकांश बिना जाने ही श्रमण जीवन का रस मिल सकता है। अपनी स्मृति पर बोझ न बढ़ा कर पुस्तकों में जैनागमों को लिपिबद्ध करके भी जैन श्रमण आगमों को बचा सकते थे किन्तु ऐसा करने में अपरिग्रहव्रत का भंग असह्य था। उसमें उन्होंने असंयम देखा।[1] जब उन्होंने अपने अपरिग्रहव्रत को कुछ शिथिल किया तब वे आगमों का अधिकांश भूल चुके थे। पहले जिस पुस्तक-परिग्रह को असंयम का कारण समझा था उसी को संयम का कारण मानने लगे[2]। क्यों कि ऐसा न करते तो श्रुतविनाश का भय था। किन्तु अब क्या हो सकता था। जो कुछ उन्होंने खोया वह तो मिल ही नहीं सकता था। लाभ इतना अवश्य हुआ कि जब से उन्होंने पुस्तक-परिग्रह को संयम का कारण माना, जो कुछ आगमिकसंपत्ति उस समय थी, सुरक्षित रह गई। अधिक हानि नहीं हुई। आचार के नियमों को श्रुत की सुरक्षा की दृष्टि से शिथिल कर दिया गया। श्रुतरक्षा के लिए कई अपवादों की सृष्टि भी की गई। दैनिक आचार में भी श्रुतस्वाध्याय को अधिक महत्त्व दिया गया इतना करके भी जो मौलिक कमी थी उसका निवारण तो हुआ ही नहीं, क्योंकि गुरु अपने श्रमण शिष्य को ही ज्ञान दे सकता है, इस नियम का तो अपवाद हुआ ही नहीं। अतएव अध्येता श्रमणों के अभाव में गुरु के साथ ही ज्ञान चला जाय तो उसमें आश्चर्य क्या ? कई कारणों से, खासकर जैनश्रमण की कठोर तपस्या और अत्यन्त कठिन आचार के कारण अन्य बौद्धादि श्रमणसंघों की तरह जैन श्रमण संघ का संख्याबल शुरू से ही कम रहा है। ऐसी स्थिति में कण्ठस्थ की तो क्या, वल्लभी में लिखित सकल ग्रन्थों की भी सुरक्षा न हो सके तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

(३) वाचनाएँ

(अ) पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना—

बौद्ध इतिहास में भगवान बुद्ध के उपदेश को व्यवस्थित करने के लिए भिक्षुओं ने कालक्रम से तीन संगितियाँ की थीं, यह प्रसिद्ध है। उसी प्रकार भगवान् महावीर के उपदेश को भी व्यवस्थित करने के लिए जैन आचार्यों ने भी मिलकर तीन वाचनाएं की हैं। जब जब आचार्यों ने देखा कि श्रुत का ह्रास हो रहा है, उसमें अव्यवस्था होगई है तब तब जैनाचार्यों ने एकत्र होकर जैनश्रुत को व्यवस्थित किया है।

---

१. पोत्थए सु घेप्पंतएसु असंजमो भवइ। दशवै० चू० पृ० २१।

२. कालं पुण पडुच्च चरणकरणट्ठा अवोच्छित्ति निमित्तं च गेण्हमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ। दशवै० चू० पृ० २१।

[1] भगवान् महावीर के निर्वाण से करीब १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में लम्बे समय के दुर्भिक्ष के बाद जैनश्रमणसंघ एकत्रित हुआ। उन दिनों मध्यदेश में अनावृष्टि के कारण जैनश्रमण तितर-बितर हो गए थे अतएव अंगशास्त्रकी दुरवस्था होना स्वाभाविक ही है। एकत्रित हुए श्रमणों ने एक दूसरे से पूछ पूछ कर ११ अंगों को व्यवस्थित किया किन्तु देखा गया कि उनमें से किसी को भी संपूर्ण दृष्टिवाद का पता न था। उस समय दृष्टिवाद के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे किन्तु उन्होंने १२ वर्ष के लिए विशेष प्रकार के योगमार्ग का अवलंबन किया था और वे नेपाल में थे। अतएव संघ ने स्थूलभद्र को कई साधुओं के साथ दृष्टिवादकी वाचना लेने के लिए भद्रबाहु के पास भेजे। उनमें से दृष्टिवाद को ग्रहण करने में सिर्फ स्थूलभद्र ही समर्थ सिद्ध हुए। उन्होंने दशपूर्व सीखने के बाद अपनी श्रुतलब्धि-ऋद्धि का प्रयोग किया। इसका पता जब भद्रबाहु को चला तब उन्होंने आगे अध्यापन करना छोड़ दिया। स्थूलभद्र के बहुत कुछ समझाने पर वे राजी हुए किन्तु स्थूलभद्र को कहा कि शेष चारपूर्व की अनुज्ञा मैं तुम्हें नहीं देता। तुमको मैं शेष चार पूर्वकी सूत्र वाचना देता हूं किन्तु तुम इसे दूसरों को नहीं पढ़ाना।[2]

परिणाम यह हुआ कि स्थूलभद्र तक चतुर्दशपूर्व का ज्ञान श्रमणसंघ में रहा। उनकी मृत्यु के बाद १२ अंगों में से ११ अंग और दश पूर्व का ही ज्ञान शेष रह गया। स्थूलभद्र की मृत्यु[3] वीरनि० के २१५ वर्ष बाद (मतान्तर से २१९) हुई।

वस्तुतः देखा जाय तो स्थूलभद्र भी श्रुतकेवली न थे क्योंकि उन्होंने दशपूर्व तो सूत्रतः और अर्थतः पढ़े थे किन्तु शेष चार पूर्व मात्र सूत्रतः पढ़े थे। अर्थ का ज्ञान भद्रबाहु ने उन्हें नहीं दिया था।

अतएव श्वेताम्बरों के मत से यही कहना होगा कि भद्रबाहु की मृत्यु के साथ ही अर्थात् वीरात् १७० वर्ष के बाद श्रुत केवलीका लोप होगया। उसके बाद संपूर्णश्रुत का ज्ञाता कोई नहीं हुआ। दिगम्बरों ने श्रुतकेवली का लोप १६२ वर्ष बाद माना है। दोनों की मान्यताओं में सिर्फ ८ वर्ष का अन्तर है। आ० भद्रबाहु तक की दोनों की परंपरा इस प्रकार है—

---

१. आवश्यक चूर्णि भा २, पृ १८७।
२. तित्थोगा० ८०१-२। वीरनिर्वाणसंवत् और जैन कालगणना पृ० ९४।
३. आ० कल्याण विजयजी के मत से मृत्यु नहीं किन्तु युग प्रधानत्व का अन्त, देखो, वीरनि० पृ० ६२ टिप्पणी।

दिगम्बर[1]		श्वेताम्बर[2]	
केवली-गौतम	१२ वर्ष	सुधर्मा[3]	२० वर्ष
सुधर्मा	१२ ,,	जम्बू	४४ ,,
जम्ब	३८ ,,		
श्रुतकेवली-विष्णु	१४ ,,	प्रभव	११ ,,
नन्दिमित्र	१६ ,,	शय्यंभव	२३ ,,
अपराजित	२२ ,,	यशोभद्र	५० ,,
गोवर्धन	१९ ,,	संभूतिविजय	८ ,,
भद्रबाहु	२९ ,,	भद्रबाहु	१४ ,,
	१६२ वर्ष		१७० वर्ष

सारांश यह है कि गणधरग्रथित १२ अंगों में से प्रथम वाचना के समग चार पूर्व न्यून १२ अंग श्रमणसंघ के हाथ लगे क्योंकि स्थूलभद्र यद्यपि सूत्रतः संपूर्णश्रुत के ज्ञाता थे किन्तु उन्हें चार पूर्व की वाचना दूसरों के देने का अधिकार नहीं था। अतएव तब से संघ में श्रुतकेवली नहीं किन्तु दशपूर्वी हुए और अंगों-मेंसे उतने ही श्रुत की सुरक्षा का प्रश्न था।

अनुयोगपृथक्करण और पूर्वों का विच्छेद

श्वेताम्बरों के मत से दशपूर्वीओं की परंपरा का अंत आचार्य वज्र के साथ हुआ। आचार्य वज्र की मृत्यु विक्रम ११४ में हुई अर्थात् वीरात् ५८४। इसके विपरीत दिगंबरों की मान्यता के अनुसार अन्तिम दशपूर्वी धर्मसेन हुए और वीरात् ३४५ के बाद दशपूर्वीका विच्छेद हुआ अर्थात् श्रुतकेवली का विच्छेद दिगम्बरों ने श्वेताम्बरों से आठ वर्ष पूर्व माना और दशपूर्वी का विच्छेद २३९ वर्ष पूर्व माना। तात्पर्य यह है कि श्रुतविच्छेद की गति दिगम्बरों के मत से अधिक तेज़ है।

श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के मत से दशपूर्वधरों की सूची इस प्रकार है—

---

१. धवला पु० १ प्रस्ता० पृ० २६

२. इण्डियन ऐन्टी० भा० ११ सप्टे० पृ० २४५–२५६। वीरनि० पृ० ६२।

३. सुधर्मा केवल्यावस्था में आठवर्ष रहे, उसके पहले छद्मस्थ के रूप में रहे।

दिगम्बर[1]			श्वेताम्बर[2]			
विशाखाचार्य	१०	वर्ष	स्थूलभद्र	४५	वर्ष	
प्रोष्ठिल	१९	„	महागिरि	३०	„	
क्षत्रिय	१७	„	सुहस्तिन्	४६	„	
जयसेन	२१	„	गुणसुन्दर	४४	„	
नागसेन	१८	„	कालक	४१	„	(प्रज्ञापनाकर्त्ता)
सिद्धार्थ	१७	„	स्कंदिल (सांडिल्य)	३८	„	
धृतिषेण	१८	„	रेवती मित्र	३६	„	
विजय	१३	„	आर्य मंगू	२०	„	
बुद्धिलिंग	२०	„	„ धर्म	२४	„	
देव	१४	„	भद्रगुप्त	३९	„	
धर्मसेन	१६	„	श्रीगुप्त	१५	„	
			वज्र	३६	„	
	१८३ वर्ष			४१४ वर्ष		
	+१६२=३४५			+१७०=५८४		

आर्य वज्र के बाद आर्य रक्षित हुये। वे १३ वर्ष पर्यन्त युगप्रधान रहे। उन्होंने भविष्यमें मति-मेधा-धारणादि से रहित एसे शिष्यों को जान करके अनुयोगों का विभाग कर दिया। अभी तक किसी एक सूत्र की व्याख्या चारों प्रकार के अनुयोगों से होती थी। उसके स्थान में उन्होंने विभाग कर दिया कि अमुक सूत्र की व्याख्या सिर्फ एक ही अनुयोगपरक की जायगी। जैसे, चरण-करणानुयोग में कालिक श्रुत ग्यारह अंग, महाकल्पश्रुत और छेदसूत्रों का समावेश किया; धर्मकथानुयोग में ऋषिभाषितों का; गणितानुयोग में सूर्य प्रज्ञप्तिका, और दृष्टिवाद का द्रव्यानुयोग में समावेश कर दिया।[3]

जब तक इस प्रकार के अनुयोगों का विभाग नहीं था तब तक आचार्योंके लिये प्रत्येक सूत्रों में विस्तारसे नयावतार करना भी आवश्यक था किन्तु जब से अनुयोगों का पार्थक्य किया गया तब से नयावतार भी अनावश्यक हो गया।[4]

---

१. धवला पु० १ प्रस्ता० पृ० २६।
२. मेरुतुंग-विचारश्रेणी। वीरनि० पृ० ६४।
३. आवश्यक निर्युक्ति ७६३-७७७। विशेषावश्यकभाष्य २२८४-२२९५।
४. आवश्यक निर्युक्ति ७६२। विशेषा० २२७९।

आर्यरक्षितके बाद श्रुतका पठन-पाठन पूर्ववत् नहीं चला होगा और उसमें पर्याप्त मात्रा में शिथिलता हुई होगी यह उक्त बातसे स्पष्ट है। अतएव श्रुत उत्तरोत्तर ह्रास होना भी स्वाभाविक है। स्वयं आर्यरक्षित के लिये भी कहा गया है कि वे संपूर्ण नव पूर्व और दशम पूर्व के २४ यविक मात्र के अभ्यासी थे।

आर्य रक्षित भी अपने सभी शिष्योंको यावत् ज्ञात श्रुत देने में असमर्थ ही हुए। उनकी कथा में कहा गया है कि उनके शिष्यों में से सिर्फ दुर्बलिका पुष्पमित्र ही संपूर्ण नवपूर्व पढ़ने में समर्थ हुआ किन्तु वह भी उसके अभ्यास के न कर सकने के कारण नवम पूर्व को भूल गया[1]। उत्तरोत्तर पूर्वों के विशेषपाठिओं का ह्रास होकर एक समय ऐसा आया जब पूर्वों का विशेषज्ञ कोई न रहा। यह स्थिति वीर निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद हुई[2]। किन्तु दिगम्बरों के कथनानुसार वीरनिर्वाण सं० ६८३ के बाद हुई।

(ब) माथुरी वाचना

नन्दी सूत्र की चूर्णि में उल्लेख है[3] कि द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण ग्रहण-गुणन-अनुप्रेक्षा के अभाव में सूत्र नष्ट हो गया। आर्य स्कंदिल के सभापतित्व में बारह वर्ष के दुष्काल के बाद साधुसंघ मथुरा में एकत्र हुआ और जिसको जो याद था उसके आधार पर कालिकश्रुत को व्यवस्थित कर लिया गया। क्योंकि यह वाचना मथुरा में हुई अतएव यह माथुरी वाचना कहलाई। कुछ लोगों का कहना है कि सूत्र तो नष्ट नहीं हुआ किन्तु प्रधान अनुयोगधरों का अभाव हो गया। सिर्फ स्कंदिल आचार्य ही बचे थे जो अनुयोगधर थे। उन्होंने क्योंकि मथुरा में अन्य साधुओं को अनुयोग दिया अतएव माथुरी वाचना कहलाई।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि दुबारा भी दुष्काल के कारण श्रुतकी दुरवस्था हो गई थी। इस बार की संकलना का श्रेय आचार्य स्कंदिल को है। मुनि श्री कल्याणविजयजी ने आचार्य स्कंदिल का युगप्रधानत्व काल वीरनिर्वाण संवत् ८२७ से ८४० तक माना है। अतएव यह वाचना इसी बीच हुई होगी[4]। इस वाचना के फलस्वरूप आगम लिखे भी गये।

---

१. विशेषा० टी० २५११।

२. भगवती० २.८। सत्तरिसयठाण-३२७।

३. नन्दी चूर्णि पृ० ८।

४. वीरनि० पृ० १०४

(क) वालभी वाचना

जब मथुरा में वाचना हुई थी उसी काल में वलभी में भी नागार्जुन सूरि ने श्रमणसंघ को एकत्र करके आगमों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया था। और "वाचक नागार्जुन और एकत्रित संघ को जो-जो आगम और उनके अनुयोगों के उपरांत प्रकरण ग्रन्थ याद थे वे लिख लिये गये और विस्तृत स्थलों को पूर्वापर संबंध के अनुसार ठीक करके उसके अनुसार वाचना दी गई[1]।" इसमें प्रमुख नागार्जुन थे अतएव इस वाचना को 'नागार्जुनीय वाचना' भी कहते हैं।

देवर्धिगणिका पुस्तकलेखन

"उपर्युक्त वाचनाओं के संपन्न हुए करीब डेढ़ सौ वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका था, उस समय फिर वलभी नगर में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमणसंघ इकट्ठा हुआ और पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय लिखे गये सिद्धान्तों के उपरान्त जो जो ग्रन्थ प्रकरण, मौजूद थे उन सब को लिखाकर सुरक्षित करने का निश्चय किया। इस श्रमणसमवसरण में दोनों वाचनाओं के सिद्धान्तों का परस्पर समन्वय किया गया और जहाँ तक हो सका भेदभाव मिटा कर उन्हें एकरूप कर दिया। और जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें पाठान्तर के रूप में टीका–चूर्णिओं में संगृहीत किया। कितनेक प्रकीर्णक ग्रन्थ जो केवल एक ही वाचना में थे वैसे के वैसे प्रमाण माने गये[2]।"

यही कारण है कि मूल और टीका में हम 'वायणंतरे पुण' या 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' जैसे उल्लेख पाते हैं[3]।

यह कार्य वीरनिर्वाण सं० ९८० में हुआ और वाचनान्तर के अनुसार ९९३ में हुआ।

वर्तमान में जो आगमग्रन्थ उपलब्ध हैं उनका अधिकांश इसी समय में स्थिर हुआ था।

नन्दी सूत्र में जो सूची है उसे ही यदि वलभीमें पुस्तकारूढ सभी आगमों की सूची मानी जाय तब कहना होगा कि कई आगम उक्त लेखन के बाद भी

---

१. वीरनि० पृ० ११० ।

२. वही पृ० ११२ ।

३. वही पृ० ११६ ।

नष्ट हुए हैं। खास करके प्रकीर्णक तो अनेक नष्ट हो गये हैं। सिर्फ वीरस्तव नामक एक प्रकीर्णक और पिण्डनिर्युक्ति ऐसे हैं जो नन्दीसूत्र में उल्लिखित नहीं हैं किन्तु श्वेताम्बरों को आगमरूप से मान्य हैं।

(४) पूर्वों के आधार से बने ग्रन्थ

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों के मत से पूर्वों का विच्छेद हो गया है किन्तु पूर्वगत श्रुत का विषय सर्वथा लुप्त हो गया हो यह बात नहीं क्योंकि दोनों संप्रदायों में कुछ ऐसे ग्रन्थ और प्रकरण मौजूद हैं जिनका आधार पूर्वों को बताया जाता है। दिगम्बर आचार्यों ने पूर्व के आधार पर ही षट्खण्डागम और कषायप्राभृत की रचना की ह यह बताया जायगा। इस विषय में श्वेताम्बर मान्यता का वर्णन किया जाता है।

श्वेताम्बरों के मत से दृष्टिवाद में ही संपूर्ण वाङ्मय का अवतार होता है किन्तु दुर्बलमति पुरुष और स्त्रियों के लिये ही दृष्टिवाद के विषय को लेकर ही शेष ग्रन्थों की सरल रचना होती है[1]। इसी मत को मान करके यह कहा जाता है कि गणधर सर्व प्रथम पूर्वों की रचना करते है और उन्हीं पूर्वों के आधार से शेष अङ्गों की रचना करते हैं[2]।

यह मत ठीक भी प्रतीत होता है किन्तु इसका तात्पर्य इतना ही समझना चाहिए कि वर्तमान आचारांगादि से पहले जो शास्त्रज्ञान श्रुतरूप में विद्यमान था वही पूर्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसी के आधार पर भगवान् महावीर के उपदेशों को ध्यान में रख कर द्वादशांग की रचना हुई और उन पूर्वों को भी बारहवें अंग के एक देश में प्रविष्ट कर दिया गया। पूर्व के ही आधार पर जब सरल रीति से ग्रन्थ बने तब पूर्वों के अध्ययन अध्यापन की रुचि कम होना स्वाभाविक है और यही कारण है कि सर्वप्रथम विच्छेद भी उसी का हुआ।

यह तो एक सामान्य सिद्धान्त हुआ। किन्तु कुछ ग्रन्थों और प्रकरणों के विषय में तो यह स्पष्ट निर्देश है कि उनकी रचना अमुक पूर्व से की गई है।

---

१. विशेषा० गा० ५५१–५५२। बृहत्० १४५–१४६।

२. नन्दी चूर्णि पृ० ५६। आवश्यकनिर्युक्ति २९२–३। इसके विपरीत दूसरा मत है कि सर्वप्रथम आचारांग की रचना होती है और क्रमशः शेष अंगों की–आचा० निर्यु० ८, ९। आचा० चूर्णि पृ० ३। धवला० पु० १, पृ० ६५।

यहाँ हम उनकी सूची देते हैं–जिससे पता चल जायगा कि सिर्फ दिगम्बर मान्य षट्खण्डागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रन्थ नहीं जिनकी रचना पूर्वों के आधार से की गई है किन्तु श्वेताम्बरों के आगमरूप से उपलब्ध ऐसे अनेक ग्रन्थ और प्रकरण हैं जिनका आधार पूर्व ही हैं।

१. महाकल्प श्रुत नामक आचारांग के निशीथाध्ययन की रचना, प्रत्याख्यान-पूर्व के तृतीय आचार वस्तु के बीसवें पाहुड से हुई है[1]।

२. दशवैकालिक सूत्र के धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययन की आत्मप्रवाद पूर्व से, पिण्डैषणाध्ययनकी कर्मप्रवाद पूर्व से, वाक्यशुद्धि अध्ययन की सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययनों की रचना नवम प्रत्याख्यान पूर्व के तृतीय वस्तु से हुई है। इसके रचयिता शय्यंभव हैं।

३. आचार्य भद्रबाहु ने दशाश्रुतस्कंध, कल्प और व्यवहार सूत्र की रचना प्रत्याख्यान पूर्व से की है।

४. उत्तराध्ययन का परीषहाध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से उद्धृत है।

इनके अलावा आगमेतर साहित्य में खास कर कर्म साहित्य का अधिकांश पूर्वोद्धृत है किन्तु यहाँ अप्रस्तुत होने से उनकी चर्चा नहीं की जाती है।

(५) जैनागमों की सूची

१२ अंग

अब यह देखा जाय कि जैनों के द्वारा कौन-कौन से ग्रन्थ वर्तमानमें व्यवहार में आगमरूप से माने गये हैं ?

जैनों के तीनों सम्प्रदायों में इस विषय में तो विवाद है ही नहीं कि सकल श्रुत का मूलाधार गणधर ग्रथित द्वादशांग है। तीनों सम्प्रदाय में बारह अंगों के नाम के विषय में भी प्रायः ऐकमत्य है। वे बारह अंग ये हैं–

१ आचार २ सूत्रकृत ३ स्थान ४ समवाय ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६ ज्ञातृधर्मकथा ७ उपासकदशा ८ अंतकृद्दशा ९ अनुत्तरौपपातिकदशा १० प्रश्नव्याकरण ११ विपाकसूत्र १२ दृष्टिवाद।

तीनों सम्प्रदाय के मतसे अन्तिम अंग दृष्टिवादका सर्वप्रथम लोप हो गया है।

---

१. आचा० नि० २९१।

दिगम्बर मत से श्रुतका विच्छेद

दिगम्वरों का कहना है कि वीरनिर्वाण के वाद श्रुत का क्रमशः ह्रास होते होते ६८३ वर्ष के वाद कोई अंगधर या पूर्वधर आचार्य रहा ही नहीं। अंग और पूर्व के अंशमात्र के ज्ञाता आचार्य हुए। अंग और पूर्व के अंशधर आचार्यों की परंपरा में होने वाले पुष्पदंत और भूतवलि आचार्यों ने षट्खण्डागम की रचना दूसरे अग्रायणीय पूर्व के अंश के आधार से की और आचार्य गुणधर ने पांचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद के अंश के आधार से कषायपाहुड की रचना की[१]। इन दोनों ग्रन्थों को दिगम्बर आम्नाय में आगम का स्थान प्राप्त है। उसके मतानुसार अंग-आगम लुप्त होगये हैं।

दिगम्वरों के मत से वीर निर्वाण के वाद जिस क्रम से श्रुत का लोप हुआ वह नीचे दिया जाता है[२]—

३. केवली—गौतमादि पूर्वोक्त—		६२ वर्ष
५. श्रुतकेवली—विष्णु-आदि पूर्वोक्त—		१०० वर्ष
११. दशपूर्वी—विशाखाचार्यादि पूर्वोक्त—		१८३ वर्ष
५. एकादशांगधारी—	नक्षत्र जसपाल (जयपाल) पाण्डु ध्रुवसेन कंसाचार्य	२२० वर्ष
४. आचारांगधारी—	सुभद्र यशोभद्र यशोवाहु लोहाचार्य	११८ वर्ष
		६८३ वर्ष

दिगम्वरों के अंगवाह्य ग्रन्थ

उक्त अंग के अतिरिक्त १४ अंगवाह्य आगमों की रचना भी स्थविरों ने की थी, ऐसा मानते हुए भी दिगम्वरों का कहना है कि उन अंगवाह्यागम का भी लोप होगया है। उन चौदह अंगवाह्य आगमों के नाम इस प्रकार हैं—

---

१. धवला पु० १ प्रस्ता० पृ० ७१। जयधवला पृ० ८७।

२. देखो जयधवला प्रस्ता० पृ० ४६।

१ सामायिक २ चतुर्विंशतिस्तव ३ वंदना ४ प्रतिक्रमण ५ वैनयिक ६ कृतिकर्म ७ दशवैकालिक ८ उत्तराध्ययन ९ कल्पव्यवहार १० कल्पाकल्पिक ११ महाकल्पिक १२ पुण्डरीक १३ महापुण्डरीक १४ निशीथिका[1]।

श्वेताम्बरों के दोनों सम्प्रदायों के अंगबाह्य ग्रन्थोंकी और तद्गत अध्ययनों की सूची को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त १४ दिगम्बर मान्य अंगबाह्य आगमों में से अधिकांश श्वेताम्बरों के मत से सुरक्षित हैं। उनका विच्छेद हुआ ही नहीं।

दिगम्बरों ने मूलागम का लोप मान कर भी कुछ ग्रन्थों को आगम जितना ही महत्त्व दिया है और उन्हें जैनवेद की संज्ञा देकर प्रसिद्ध चार अनुयोगों में विभक्त किया है। वह इस प्रकार हैं–

१–प्रथमानुयोग–पद्मपुराण (रविषेण), हरिवंश पुराण (जिनसेन), आदिपुराण (जिनसेन), उत्तरपुराण (गुणभद्र)।

२–करणानुयोग–सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जयधवल।

३–द्रव्यानुयोग–प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय (ये चारों कुन्दकुन्दकृत), तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (उमास्वामी) और उसकी समन्तभद्र[2], पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्द आदि कृत टीकाएं, आप्तमीमांसा (समन्तभद्र) और उसकी अकलङ्क, विद्यानन्द आदि कृत टीकाएं।

४–चरणानुयोग–मूलाचार (वट्टकेर), त्रिवर्णाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार।[3]

इस सूची से स्पष्ट है कि इस में दशवीं शताब्दी तक लिखे गए ग्रन्थों का समावेश हुआ है।

स्थानकवासी के आगमग्रन्थ

श्वेताम्बर स्थानकवासी संप्रदाय के मतसे दृष्टिवाद को छोड़ कर सभी अंग सुरक्षित हैं। अंगबाह्य के विषय में इस संप्रदाय का मत है कि सिर्फ निम्नलिखित ग्रंथ ही सुरक्षित हैं।

---

१ जयधवला पृ० २५। धवला पु० १, पृ० ९६। गोमट्टसार जीव० ३६७, ३६८।

२ अनुपलब्ध है।

३ जैनधर्म पृ० १०७। हिस्ट्री ओफ इन्डियन लिटरेचर भा० २ पृ० ४७४

अंगबाह्य में १२ उपांग, ४ छेद, ४ मूल और १ आवश्यक इस प्रकार सिर्फ २१ ग्रंथ का समावेश है वह इस प्रकार से है—

१२ उपांग—१ औपपातिक २ राजप्रश्नीय ३ जीवाभिगम ४ प्रज्ञापना ५ सूर्यप्रज्ञप्ति ६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ७ चन्द्रप्रज्ञप्ति ८ निरयावली ९ कल्पावतंसिका १० पुष्पिका ११ पुष्पचूलिका १२ वृष्णिदशा।

शास्त्रोद्धार मीमांसा में (पृ० ४१) आ० अमोलखऋषि ने लिखा है कि चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति ये दोनों ज्ञाताधर्म के उपांग हैं। इस अपवाद को ध्यान में रख कर क्रमशः आचारांग का औपपातिक इत्यादि क्रम से अंगों के साथ उपांगों की योजना कर लेना चाहिए।

४ छेद—१ व्यवहार २ बृहत्कल्प ३ निशीथ ४ दशा-श्रुतस्कन्ध।

४ मूल—१ दशवैकालिक २ उत्तराध्ययन ३ नन्दी ४ अनुयोग और

१ आवश्यक इसप्रकार सब मिलकर २१ अंगबाह्यग्रंथ वर्तमान में हैं।

२१ अंगबाह्यग्रन्थों को जिस रूप में स्थानकवासियों ने माना है, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक उन्हें उसी रूप में मानते हैं। इसके अलावा कई ऐसे ग्रंथों का भी अस्तित्व स्वीकार किया है जिन्हें स्थानकवासी प्रमाणभूत नहीं मानते या लुप्त मानते हैं।

स्थानकवासी के समान उसी संप्रदाय का एक उपसंप्रदाय तेरहपंथ को भी ११ अंग और २१ अंगबाह्य ग्रंथों का ही अस्तित्व और प्रामाण्य स्वीकृत है, अन्य ग्रंथों का नहीं।

इन दोनों सम्प्रदायों में निर्युक्ति आदि टीका ग्रंथों का प्रामाण्य अस्वीकृत है।

यद्यपि वर्तमान में कुछ स्थानकवासी साधुओं की, आगम के इतिहास के प्रति दृष्टि जाने से तथा आगमों की निर्युक्ति जैसी प्राचीन टीकाओं के अभ्यास से, दृष्टि कुछ उदार हुई है और वे यह स्वीकार करने लगे हैं कि दशवैकालिक आदि शास्त्र के प्रणेता गणधर नहीं किन्तु शय्यंभव आदि स्थविर हैं तथापि जिन लोगों का आगम के टीका-टिप्पणियों पर कोई विश्वास नहीं तथा जिन्हें संस्कृत टीका ग्रन्थों के अभ्यास के प्रति नफरत हैं ऐसे साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वालों का यही विश्वास प्रतीत होता है कि अंग और अंगबाह्य दोनों प्रकार के आगम के कर्त्ता गणधर ही थे, अन्य स्थविर नहीं[1]।

---

[1] शास्त्रोद्धार मीमांसा पृ० ४३, ४५, ४७

श्वेताम्बरों के आगम ग्रन्थ

यह तो कहा ही जा चुका है कि अंगों के विषय में किसी का भी मतभेद नहीं। अतएव श्वेताम्बरों को भी पूर्वोक्त १२ अंग मान्य हैं जिन्हें अन्य दिगम्बरादि ने माना है। फर्क यही है कि दिगम्बरों ने १२ अंगों का पूर्वोक्त क्रम से विच्छेद माना तब श्वेताम्बरोंने सिर्फ अन्तिम अंग का विच्छेद माना। उनका कहना है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के १००० वर्ष बाद ही सिर्फ पूर्वगत का विच्छेद[१] हुआ है।

जब तक उसका विच्छेद नहीं हुआ था, आचार्यों ने पूर्व के विषयों को लेकर कई रचनाएँ की थीं। ऐसी अधिकांश रचनाओं का समावेश अंग बाह्य में किया गया है। कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनका समावेश अंग में भी किया गया है।

दिगम्बरों ने १४, स्थानकवासियों ने २१ और श्वेताम्बरों ने ३४ अंगबाह्य ग्रन्थ माने हैं।

श्वेताम्बरों के मत से उपलब्ध ११ अंग और ३४ अंगबाह्य ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है–

११ अंग–पूर्वोक्त आचारांगादि।
१२ उपांग– औपपातिक आदि पूर्वोक्त।
१० प्रकीर्णक–१ चतुःशरण २ आतुरप्रत्याख्यान ३ भक्तपरिज्ञा ४ संस्तारक ५ तंदुलवैचारिक ६ चन्द्रवेध्यक ७ देवेन्द्रस्तव ८ गणिविद्या ९ महाप्रत्याख्यान १० वीरस्तव[२]।
६ छेदसूत्र–१ निशीथ २ महानिशीथ ३ व्यवहार ४ दशाश्रुतस्कंध ५ बृहत्कल्प ६ जीतकल्प।
४ मूल–१ उत्तराध्ययन २ दशवैकालिक ३ आवश्यक ४ पिण्डनिर्युक्ति[३]।
२ चूलिकासूत्र–१. नन्दीसूत्र २ अनुयोगद्वार।

---

१ भगवती–२–८। तित्थोगा० ८०१। सत्तरिसयठाण–३२७।

२ दशप्रकीर्णक कुछ परिवर्तन के साथ भी गिनाये जाते हैं, देखो केनोनिकल लिटरेचर ओफ जैन्स पृ० ४५–५१।

३ किसी के मत से ओघनिर्युक्ति भी इसमें समाविष्ट है। कोई पिण्डनिर्युक्ति के स्थान में ओघनिर्युक्ति को मानते हैं।

(६) आगमकी रचनाका काल

जैसा हमने देखा आगमशब्दवाच्य एक ग्रन्थ नहीं किन्तु अनेककर्तृक अनेक ग्रन्थोंका समुदाय है। अतएव आगमकी रचनाका कोई एक काल बताया नहीं जा सकता। भगवान् महावीरका उपदेश विक्रम पूर्व ५०० वर्षमें शुरु हुआ। अतएव उपलब्ध किसी आगमकी रचना उसके पहले होना संभव नहीं और दूसरी ओर अंतिम वाचनाके आधार पर पुस्तक लेखन वलभीमें विक्रम सं० ५१० (मतान्तर से ५२३) में हुआ। अतएव तदन्तर्गत कोई शास्त्र विक्रम ५२५ से बाद का नहीं हो सकता[1]। इस मर्यादाको ध्यानमें रखकर हमे सामान्यतः आगमकी रचनाके कालका विचार करना है।

अंग ग्रन्थ गणधरकृत कहे जाते हैं किन्तु उनमें सभी एकसे प्राचीन नहीं हैं। आचारांगके ही प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध भाव और भाषामें भिन्न हैं यह कोई भी कह सकता है। प्रथम श्रुतस्कंध द्वितीयसे ही नहीं किन्तु समस्त जैन-वाङमयमें सबसे प्राचीन अंश है। उसमें परिवर्धन और परिवर्तन सर्वथा नहीं है यह तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसमें नया सबसे कम मिलाया गया है यह तो निश्चयपूर्वक कहा ही जा सकता है। वह भगवान् के साक्षात् उपदेश-रूप न भी हो तब भी उसके अत्यन्त निकट तो है ही। ऐसी स्थितिमें उसे हम विक्रम पूर्व ३०० से बादकी सँकलना नहीं कह सकते। अधिक संभव यही है कि वह प्रथम वाचना की संकलना है। आचारांगका द्वितीय श्रुतस्कन्ध आचार्य भद्रबाहुके बादकी रचना होना चाहिए क्योंकि उसमें प्रथम श्रुतस्कन्धकी अपेक्षा भिक्षुओंके नियमोपनियमके वर्णनमें विकसित भूमिकाकी सूचना मिलती है। इसे हम विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दीसे इधरकी रचना नहीं कह सकते। यही बात हम अन्य सभी अंगोंके विषयमें सामान्यतः कह सकते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उसमें जो कुछ संकलित है वह इसी शताब्दी का है। वस्तु तो पुरानी है वह गणधरोंसे परंपरासे चली ही आती थी। उसीको संक-लित किया गया। इसका मतलब यह भी नहीं समझना चाहिए कि विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी के बाद इनमें कुछ नया नहीं जोड़ा गया है। स्थानांग जैसे अंग ग्रन्थोंमें वीरनिर्वाणकी छठी शताब्दीकी घटनाका भी उल्लेख आता है। किन्तु ऐसे कुछ अंशोंको छोड़ करके बाकी सब भाव पुराने ही हैं। भाषा में यत्रतत्र

---

१. चतुःशरण और भक्तपरिज्ञा जैसे प्रकीर्णक जिनका उल्लेख नन्दीमें नहीं है वे इसमें अपवाद हैं। ये ग्रन्थ कब आगमान्तर्गत कर लिये गये कहना कठिन है।

काल की गति और प्राकृतभाषा होनेके कारण भाषाविकासके नियमानुसार परिवर्तन होना अनिवार्य है। क्योंकि प्राचीन समयमें इसका पठनपाठन लिखित ग्रन्थोंसे नहीं किन्तु कण्ठोपकण्ठसे होता था। प्रश्नव्याकरण अंगका वर्णन जैसा नन्दीसूत्रमें है उसे देखते हुए उपलब्ध प्रश्नव्याकरण अंग समूचा ही बादकी रचना हो ऐसा प्रतीत होता है। वालभी वाचनाके बाद कब यह अंग नष्ट हो गया और कब उसके स्थानमें नया बनाकर जोड़ा गया इसके जाननेका हमारे पास कोई साधन नहीं। इतना ही कहा जा सकता है कि अभयदेव की टीका, जो कि वि० १२ वीं शताब्दीके प्रारंभमें लिखी गई है, से पहले वह कभी बन चुका था।

उपांगके समयके बारेमें अब विचार क्रमप्राप्त है। प्रज्ञापनाका रचनाकाल निश्चित ही है। प्रज्ञापनाके कर्ता आर्य श्याम हैं। उनका दूसरा नाम कालकाचार्य (निगोदव्याख्याता) है[1]। इनको वीरनिर्वाण सं० ३३५ में युगप्रधान पद मिला है। और वे उस पद पर ३७६ तक बने रहे। इसी कालकी रचना प्रज्ञापना है। अत एव यह रचना विक्रमपूर्व १३५ से ९४ के बीचकी होनी चाहिए। शेष उपांगोंके कर्ताका कोई पता नहीं। किन्तु इनके कर्ता गणधर तो नहीं माने जाते। अन्यस्थविर माने जाते हैं। ये सभी किसी एक कालकी रचना नहीं हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति इन तीन उपांगोंका समावेश दिगम्बरोंने दृष्टिवादके प्रथम भेद परिकर्म में किया है[2]। नन्दी सूत्रमें भी उनका नामोल्लेख है अतएव ये ग्रन्थ श्वेताम्बर-दिगम्बरके भेदसे प्राचीन होने चाहिए। अतएव इनका समय विक्रम संवत्के प्रारंभसे इधर नहीं आ सकता। शेष उपांगोंके विषयमें भी सामान्यतः यही कहा जा सकता है। उपलब्ध चन्द्रप्रज्ञप्तिमें और सूर्यप्रज्ञप्तिमें कोई खास भेद नहीं। अतएव संभव है कि मूल चन्द्रप्रज्ञप्ति विच्छिन्न हो गया हो।

प्रकीर्णकोंकी रचनाके विषयमें यही कहा जा सकता है कि उनकी रचना समय समय पर हुई है। और अंतिम मर्यादा वालभी वाचना तक खींची जा सकती है।

---

१. वीरनि० पृ० ६४।

२. धवला प्रस्तावना पु० २, पृ० ४३।

छेदसूत्रमें दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रोंकी रचना भद्रबाहुने की हैं अतएव उनका समय वीरनिर्वाण संवत् १७० से इधर नहीं हो सकता अर्थात् विक्रम संवत् ३०० के पहले वे बने थे। इनके ऊपर निर्युक्ति भाष्यादि टीकाएँ बनीं हैं अतएव इन ग्रन्थोंमें परिवर्तनकी संभावना नहीं है। निशीथसूत्र तो आचारांगकी चूलिका हैं अतएव वह भी प्राचीन है। किन्तु जीतकल्प तो आचार्य जिनभद्रकी रचना हैं। जब पञ्चकल्प नष्ट हो गया तब जीतकल्पको छेदमें स्थान मिला होगा ऐसा कहनेकी अपेक्षा यही कहना ठीक होगा कि क्योंकि वह कल्प-व्यवहार और निशीथके सारसंग्रहरूप है अतएव उसे छेदमें स्थान मिला हैं। महानिशीथ सूत्र जो उपलब्ध हैं वह आचार्य हरिभद्रने उस सूत्रको नष्ट होते जो बचाया वही हैं। उसकी वर्तमान संकलनाका श्रेय आ० हरिभद्रको है। अतएव उसका समय भी वही मानना चाहिए जो हरिभद्रका हैं। वस्तु तो पुरानी है ही।

मूलसूत्रों में दशवैकालिक सूत्र आ० शय्यम्भव की कृति है। उनको युग-प्रधान पद वीर नि० सं० ७५ में मिला और वे उस पद पर मृत्यु तक वीर नि० ९८ तक बने रहें। अर्थात् दशवैकालिक की रचना विक्रम पूर्व ३९५ और ३७२ के बीच हुई है। दशवैकालिक सूत्र के विषय में हम इतना कह सकते हैं कि तद्गत चूलिकाएँ सम्भव है बाद में जोड़ी गई हों। इसके अलावा उसमें कोई परिवर्तन या परिवर्धन हुआ हो ऐसा सम्भव नहीं। उत्तराध्ययन किसी एक आचार्य की कृति नहीं और न वह एक कालकी कृति हैं। फिर भी उसे विक्रम पूर्व दूसरी वा तीसरी शताब्दी का माननेमें कोई बाधक नहीं। आवश्यकसूत्र अंगबाह्य होने से गणधर कृत नहीं हो सकता किन्तु वह समकालीन किसी स्थविरकी रचना होना चाहिए। साधुओं के आचार में नित्योपयोगमें आनेवाला यह सूत्र है अतएव इसकी रचना दशवैकालिक से भी पहले मानना चाहिए। अंगोंमें जहाँ पठन का जिक्र आता है वहाँ 'सामाइयाणि एकादसंगाणि' पढ़नेका जिक्र आता है। इससे प्रतीत होता है कि साधुओं को सर्व प्रथम आवश्यक सूत्र पढ़ाया जाता था, इससे भी यही मानना पड़ता है कि इसकी रचना अंगकालीन ही होना चाहिए। अर्थात् यही मानना उचित है कि इसकी रचना विक्रमपूर्व ४७० के पहले हो चुकी थी। पिण्डनिर्युक्ति यह दशवैकालिककी निर्युक्तिका अंश है अतएव वह भद्रबाहु द्वितीयकी रचना होने के कारण विक्रम पांचवी छठी शताब्दीकी कृति होना चाहिए।

चूलिका सूत्रोंमें नन्दी सूत्रकी रचना तो देवर्धि गणिकी है अतएव उसका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका प्रारम्भ होना चाहिए। और अनुयोग द्वार सूत्रके कर्ता कौन थे यह कहना कठिन है। किन्तु वह आवश्यक सूत्रके बाद बना होगा क्योंकि उसमें उसी सूत्रका अनुयोग किया गया है। संभव है वह आर्य रक्षितके बाद बना हो या उन्होंने बनाया हो। उसकी रचनाका काल विक्रमपूर्व तो अवश्य है। उसमें यह संभव है कि परिवर्धन यत्र तत्र हुआ हो।

आगमोंके समयकेविषयमें यहाँ जो चर्चा की है वह अन्तिम नहीं है। जब प्रत्येक आगमका अन्तर्बाह्य निरीक्षण करके इस चर्चाको परिपूर्ण किया जायगा तब उनका समयनिर्णय ठीक हो सकेगा। यहाँ तो सामान्य निरूपण करनेका प्रयत्न है।

(७) आगमोंका विषय

जैनागमों मे से कुछ तो ऐसे हैं जो जैन आचारसे सम्बन्ध रखते हैं जैसे आचारांग, दशवैकालिक आदि। कुछ उपदेशात्मक हैं जैसे उत्तराध्ययन, प्रकीर्णक आदि। कुछ तत्कालीन भूगोल और खगोल आदि सम्बन्धी मान्यताओंका वर्णन करते हैं जैसे जम्बद्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति आदि। छेदसूत्रोंका प्रधान विषय जैनसाधुओंके आचार सम्बन्धी औत्सर्गिक और आपवादिक नियमोंका वर्णन व प्रायश्चित्तोंका विधान करना है। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें जिनमार्गके अनुयायियोंका चरित्र दिया गया है जैसे उपासकदशांग, अनुत्तरौपपातिक दशा आदि। कुछमें कल्पित कथाएँ देकर उपदेश दिया गया है जैसे ज्ञातृधर्म कथा आदि। विपाक में शुभ और अशुभ कर्मका विपाक कथाओं द्वारा बताया गया है। भगवती सूत्रमें भगवान् महावीरके साथ हुए संवादोंका संग्रह हैं। बौद्धसुत्तपिटककी तरह नाना विषयके प्रश्नोत्तर भगवतीमें संगृहीत हैं।

दर्शनके साथ सम्बन्ध रखने वालोंमें खासकर सूत्रकृत, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, भगवती, नन्दी, स्थानांग, समवाय और अनुयोग सूत्र मुख्य हैं।

सूत्रकृतमें तत्कालीन मन्तव्योंका निराकरण करके स्वमतकी प्ररूपणा की गई है। भूतवादियोंका निराकरण करके आत्माका पृथक् अस्तित्व बतलाया है। ब्रह्मवादके स्थानमें नानात्मवाद स्थिर किया है। जीव और शरीरको पृथक्

१. देखो, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ में मेरा लेख।

बताया है। कर्म है। और उसके फलकी सत्ता स्थिर की है। जगदुत्पत्तिके विषयमें नानावादोंका निराकरण करके विश्वको किसी ईश्वर या ऐसी ही किसी व्यक्तिने नहीं बनाया, वह तो अनादि अनन्त है, इस वातकी स्थापना की गई है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवादका निराकरण करके सुसंस्कृत क्रियावादकी स्थापना की गई है।

प्रज्ञापनामें जीवके विविध भावोंको लेकर विस्तारसे विचार किया गया है।

राजप्रश्नीयमें पार्श्वनाथकी परम्परामें हुए केशीश्रमणने श्रावस्तीके राजा पएसीके प्रश्नोंके उत्तरमें नास्तिकवादका निराकरण करके आत्मा और तत्सम्वन्धी अनेक वातोंको दृष्टान्त और युक्ति पूर्वक समझाया है।

भगवतीसूत्रके अनेक प्रश्नोत्तरोंमें नय, प्रमाण आदि अनेक दार्शनिक विचार विखरे पड़े हैं।

नन्दीसूत्र जैन दृष्टिसे ज्ञानके स्वरूप और भेदोंका विश्लेषण करनेवाली एक सुन्दर कृति है।

स्थानांग और समवायांगकी रचना वौद्धोंके अंगुत्तरनिकायके ढंगकी है। इन दोनोंमें भी आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय और प्रमाण आदि विषयोंकी चर्चा की गई है। भगवान् महावीरके शासनमें हुए निह्नवोंका वर्णन स्थानांगमें है। ऐसे सात व्यक्ति वताए गये हैं जिन्होंने कालक्रमसे भगवान् महावीरके सिद्धांतोंकी भिन्न भिन्न वातको लेकर अपना मतभेद प्रगट किया है। वे ही निह्नव कहे गये हैं।

अनुयोगमें शब्दार्थ करनेकी प्रक्रियाका वर्णन मुख्य है किन्तु प्रसङ्गसे उसमें प्रमाण और नयका तथा तत्त्वोंका निरूपण भी अच्छे ढंग से हुआ है।

(८) आगमों की टीकाएँ

इन आगमोंकी टीकाएं प्राकृत और संस्कृतमें हुई है। प्राकृत टीकाएं निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णिके नामसे लिखी गई हैं। निर्युक्ति और भाष्य पद्यमय हैं और चूर्णि गद्यमें। उपलब्ध निर्युक्तियाँ भद्रवाहु द्वितीयकी रचना हैं। उनका समय विक्रम पांचवीं या छठी शताब्दी है। निर्यूक्तियोंमें भद्रवाहुने कई प्रसंगमें दार्शनिक चर्चाएं वड़े सुन्दर ढंगसे की हैं। खासकर वौद्धों तथा चार्वाकोंके विषयमें

१. वही।

निर्युक्तिमें जहाँ कहीं भी अवसर मिला, उन्होंने अवश्य लिखा है। आत्माका अस्तित्व उन्होंने सिद्ध किया है। ज्ञानका सूक्ष्म निरूपण तथा अहिंसाका तात्त्विक विवेचन किया है। शब्दके अर्थ करनेकी पद्धतिके तो वे निष्णात थे ही। प्रमाण, नय और निक्षेपके विषयमें लिखकर भद्रबाहुने जैन दर्शनकी भूमिका पक्की की है।

किसी भी विषयकी चर्चाका अपने समय तकका पूर्णरूप देखना हो तो भाष्य देखना चाहिए। भाष्यकारोंमें प्रसिद्ध संघदासगणी और जिनभद्र हैं। इनका समय सातवीं शताब्दी है। जिनभद्रने विशेषावश्यक भाष्यमें आगमिक पदार्थोंका तर्कसंगत विवेचन किया है। प्रमाण, नय और निक्षेपकी संपूर्ण चर्चा तो उन्होंने की ही है। इसके अलावा तत्त्वोंका भी तात्त्विक-युक्तिसंगत विवेचन उन्होंने किया है। ऐसा कहा जा सकता है कि दार्शनिक चर्चाका कोई ऐसा विषय नहीं है जिस पर जिनभद्रने अपनी कलम न चलाई हो। बृहत्कल्प भाष्यमें संघदास-गणिने साधुओंके आहार-विहारादि नियमोंके उत्सर्ग-अपवाद मार्गकी चर्चा दार्शनिक ढंगसे की है। इन्होंने भी प्रसंगसे ज्ञान, प्रमाण, नय और निक्षेपके विषयमें लिखा है।

करीब सातवीं-आठवीं शताब्दीकी चूर्णियाँ मिलती हैं। चूर्णिकारोंमें जिन॰दास महत्तर प्रसिद्ध हैं। इन्होंने नन्दीकी चूर्णिके अलावा और भी चूर्णियाँ लिखीं हैं। चूर्णियोंमें भाष्यके ही विषयको संक्षेपमें गद्यमें लिखा गया है। जातकके ढंगकी प्राकृत कथाएं इनकी विशेषता है।

जैन आगमोंकी सबसे प्राचीन संस्कृत टीका आ० हरिभद्रने की है। उनका समय वि० ७५७ से ८५७ के बीचका है। हरिभद्रने प्राकृत चूर्णियोंका प्रायः संस्कृतमें अनुवाद ही किया है। यत्र-तत्र अपने दार्शनिक ज्ञानका उपयोग करना भी उन्होंने उचित समझा है। इसलिए हम उनकी टीकाओंमें सभी दर्शनोंकी पूर्वपक्ष रूपसे चर्चा पाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु जैनतत्त्व को भी दार्शनिक ज्ञान के बल से सुनिश्चितरूपमें स्थिर करने का प्रयत्न भी देखते हैं।

हरिभद्र के बाद शीलांकसूरि ने दशवीं शताब्दी में संस्कृतटीकाओं की रचना की। शीलांकके बाद प्रसिद्ध टीकाकार शान्त्याचार्य हुए। उन्होंने उत्तरा-ध्ययनकी बृहत्टीका लिखी है। इसके बाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव हुए, जिन्होंने नव अंगों पर संस्कृतमें टीकाएं रचीं। उनका जन्म वि०१०७२ में और स्वर्गवास विक्रम ११३५ में हुआ है। इन दोनों टीकाकारोंने पूर्व टीकाओंका पूरा उपयोग किया ही है और अपनी ओरसे नई दार्शनिक चर्चा भी की है।

यहाँ पर ऐसे ही टीकाकार मलधारी हेमचन्द्रका भी नाम उल्लेखनीय है। वे बारहवीं शताब्दीके विद्वान् थे। किन्तु आगमोंकी संस्कृत टीका करने वालोंमें सर्व श्रेष्ठ स्थान तो मलयगिरिका ही है। प्रांजल भाषामें दार्शनिक चर्चासे प्रचुर टीकाएं यदि देखना हो तो मलयगिरिकी टीकाएं देखनी चाहिए। उनकी टीका पढ़नेमें शुद्ध दार्शनिक ग्रंथ पढ़नेका आनन्द आता है। जैनशास्त्रके कर्म, आचार, भूगोल, खगोल आदि सभी विषयोंमें उनकी कलम धाराप्रवाहसे चलती है और विषयको इतना स्पष्ट करके रखती है कि फिर उस विषयमें दूसरा कुछ देखनेकी अपेक्षा नहीं रहती। जैसे वाचस्पति मिश्रने जो भी दर्शन लिया तन्मय होकर उसे लिखा, उसी प्रकार मलयगिरिने भी किया है। वे आचार्य हेमचन्द्रके समकालीन थे। अतएव उन्हें बारहवीं शताब्दीका विद्वान् मानना चाहिए।

संस्कृत-प्राकृत टीकाओंका परिमाण इतना बड़ा था और विषयोंकी चर्चा इतनी गहन-गहनतर होगई थी कि बादमें यह आवश्यक समझा गया कि आगमोंकी शब्दार्थ बतानेवाली संक्षिप्त टीकाएँ की जायँ। समयकी गतिनें संस्कृत और प्राकृत भाषाओंको बोलचालकी भाषासे हटाकर मात्र साहित्यिक भाषा बना दिया था। तब तत्कालीन अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती भाषामें बालावबोधोंकी रचना हुई। इन्हें 'टबा' कहते हैं। ऐसे बालावबोधोंकी रचना करनेंवाले कई हुए हैं किन्तु १८ वीं सदीमें हुए लोंकागच्छके धर्मसिंह मुनि विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं क्योंकि इनकी दृष्टि प्राचीन टीकाओं के अर्थको छोड़कर कहीं कहीं स्वसंप्रदाय संमत अर्थ करनेकी रही है। उनका संप्रदाय मूर्तिपूजाके विरोधमें उत्थित हुआ था।

कहा गया है उसे सुनने के बाद अब मुझे प्रतीत होता है कि इस प्रसंग का स्वीकार करके मैंने भूल की है। मैंने सदैव ऐसे मानपत्रों को टालने की कोशिश की है। कुलीनों को अपनी प्रशंसा सुनने में लज्जा होती है। मैं कुलीन हूँ या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता किन्तु मैंने अपने विषय में यहाँ जो कुछ सुना है उससे मेरी शर्म हजार गुनी बढ़ गई है। जैन धर्म में विवेक को प्रधान माना गया है इस लिये किसी की प्रशस्ति में भी विवेक का पालन आवश्यक है। मेरा तो यह सामान्य नियम है कि किसी के गुणों का वर्णन उसके समक्ष न करना। किन्तु उसकी क्षतिओं की ओर उसका ध्यान दिलाना जिससे वह अपने सुधार की भूमिका पा जाय। यदि ऐसा हो न सके तो मौन ही श्रेयस्कर है।" पण्डित जी ने इतना कहने के बाद संस्थासंचालन किस दृष्टि से होना चाहिए, साहित्य संशोधन कैसा होना चाहिए इत्यादि विषय में अपना मौखिक प्रवचन के बाद लिखित वक्तव्य में उन्होंने विद्योपार्जन किस प्रकार किया इसका निर्देश करते हुए अपने विचार-विकास का इतिहास संक्षेप में बताया। और अन्त में कहा कि "मैंने प्रारम्भ में ही कहा है कि यह चंद्रक-अर्पण वैयक्तिक नहीं है। यदि इसका प्रेरकहेतु, शास्त्र उपासना और सत्य-संशोधन वृत्ति है तो यह चन्द्रक भी आखिर उसी को मिलना चाहिए। इस समय मैं व्यक्तिगत रीति से स्वीकृत करूँ तो भी यह उक्त प्रेरक हेतु को ही हजम हो सकता है। अतः यह चन्द्रक मैं जैन-संस्कृति संशोधन मण्डल को अर्पण करता हूँ क्योंकि इस मण्डल की स्थापना प्रारम्भ से ही सत्य-संशोधन पर हुई है और आज तक इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह पूर्ण प्रयत्न कर रहा है, इसका मैं पूर्णरूपेण साक्षी हूँ। इस मण्डल से ज्यादा निर्भयता पूर्वक और पूर्ण निष्ठा के साथ अन्य कोई जैन संस्था समाज में काम कर रही हो, तो उसका मुझे पता नहीं। साथ ही मैं उक्त मण्डल का एक विनम्र सभ्य हूँ और उसका सक्रिय कार्यकर्ता भी हूँ, अतः जिस निष्ठा से यह चन्द्रक अर्पण किया जाने वाला है उस उद्देश पर चलने वाले इस मण्डल को चन्द्रक उसकी इच्छानुसार उपयोग करने के लिए सौंप दिया जाय तो मैं सोचता हूँ कि आप सभी अति प्रसन्न होंगे।

मैं अन्त में उन व्यक्तियों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ जो जैन संस्कृति संशोधन-मंडल के बारे में और उसकी आज तक की प्रवृत्तियों के विषय में कुछ नहीं जानते हों और प्रार्थना करता हूँ कि जो जैन-संस्कृत के पुनः संशोधन में थोड़ा बहुत भी रस रखते हों, वे इस मण्डल के सभ्य बनें, उसके साहित्य को पढ़ें तथा मनन करें और उसमें अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ण सहयोग दें।

'SANMATI' PUBLICATIONS

World Problems and Jain Ethics
by Dr. Beni Prasad — **Price 6 Ans.**

1. जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा — (अप्राप्य)
   ले०—प्रो० दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य चार आने
2. **Jainism in Indian History** — (अप्राप्य)
   by Dr. Bool Chand — **Price 4 Ans.**
3. विश्व-समस्या और व्रत-विचार
   ले०—डॉ० बेनीप्रसाद — मूल्य चार आने
4. **Constitution** — **Price 4 Ans.**
5. अहिंसा की साधना
   ले०—श्री काका कालेलकर — मूल्य चार आने
6. परिचयपत्र और वार्षिक कार्यविवरण — मूल्य चार आने
7. **Jainism in Kalingadesa**
   by Dr. Bool Chand — **Price 4 Ans.**
8. भगवान् महावीर
   ले०—श्री दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य चार आने
9. **Mantra Shastra and Jainism** — **Price 4 Ans.**
   by Dr. A. S. Altekar
10. जैन-संस्कृति का हृदय — मूल्य चार आने
    ले०—पं० सुखलालजी संघवी
11. भ० महावीरका जीवन—[एक ऐतिहासिक दृष्टिपात] — " "
    ले०—पं० सुखलालजी संघवी
12. जैन तत्त्वज्ञान, जैनधर्म और नीतिवाद — " "
    ले०—पं० सुखलालजी तथा डॉ० राजबलि पाण्डेय
13. आगमयुग का अनेकान्तवाद
    ले० पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य आठ आने
14. निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय [पूर्वार्द्ध]
    ले० पं० श्री सुखलालजी संघवी — मूल्य दस आने
15. निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय [उत्तरार्द्ध]
    ले० पं० श्री सुखलालजी संघवी — मूल्य छ आने
16. वस्तुपाल का विद्यामण्डल
    ले० प्रो० भोगीलाल सांडेसरा एम. ए. — मूल्य आठ आने
17. जैन आगम [श्रुत-परिचय] — मूल्य दस आने
    ले० पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया — " "

Write to :—

The Secretary,

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY
BENARES HINDU UNIVERSITY.

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।

न संस्कृति संशोधन मण्डल

जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार

फतेहचन्द बेलानी

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी, बनारस.

सन्मति प्रकाशन नं० ४
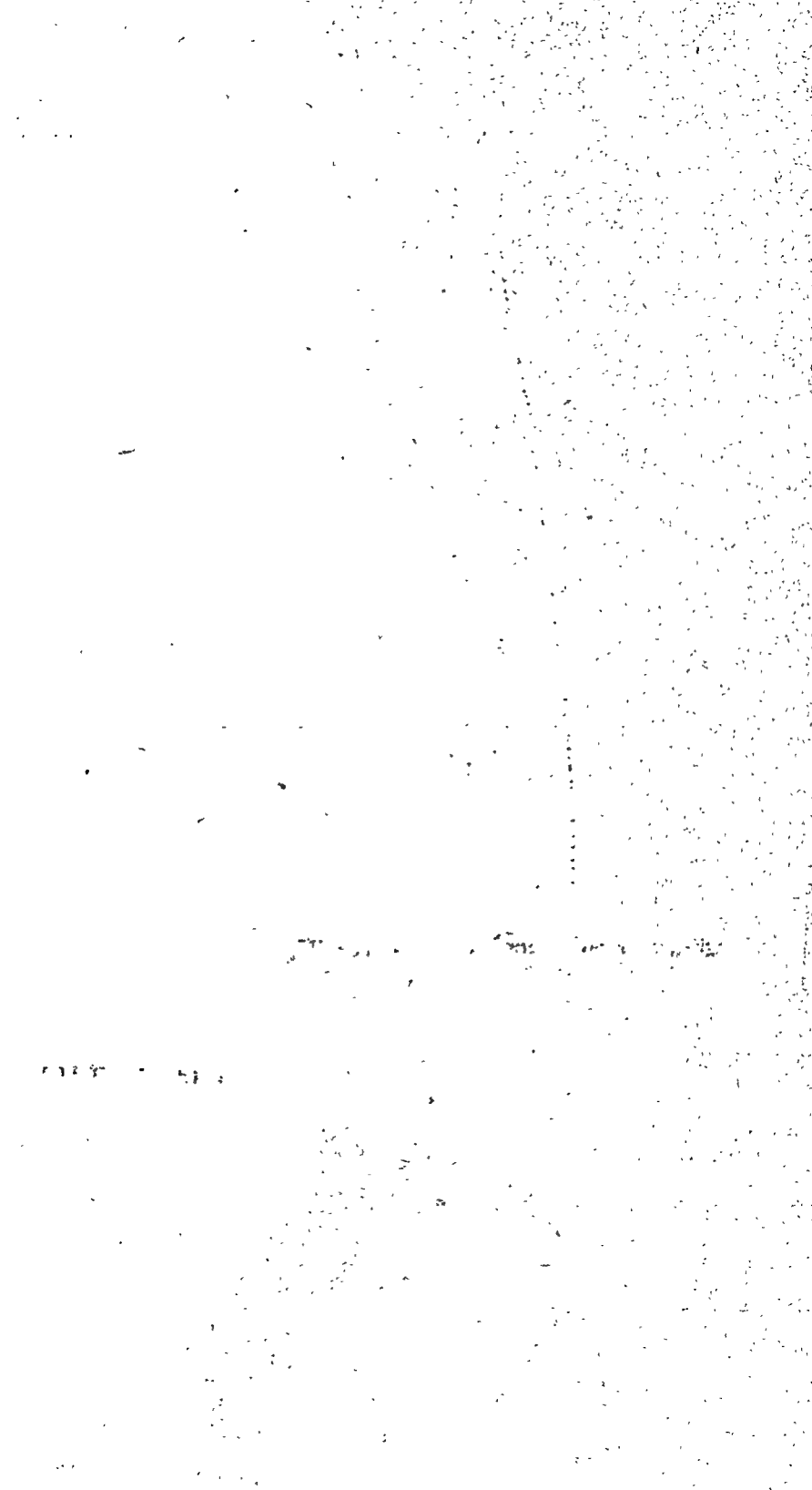
जैन ग्रंथ और ग्रंथकार

संपादक

फतेहचंद बेलानी

न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ, न्यायरत्न,

अक्तूबर १९५०

डेढ़ रुपया

निवेदन

श्री फतेहचन्द बेलानी की प्रस्तुत पुस्तिका उन्होंने १९४६ ई० में प्रकाशित करने को दी थी। वह अब प्रकाशित हो रही है अतएव इसमें हाल में जो नई सामग्री, जैसे आमेर ग्रन्थागार की सूची और प्रशस्तिसंग्रह आदि, उपलब्ध हुई है, उसका उपयोग नहीं हुआ है। इतना होते हुए भी जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का यह संकलन हिन्दीभाषी विद्वानों को जैन साहित्य का शताब्दी के अनुसार परिचय देने में एक मात्र साधन है इसे स्वीकार करना होगा। इस छोटी सी पुस्तिका को अपनी संशोधक सामग्री के द्वारा परिपूर्ण बनावें यही प्रार्थना विद्वानों से है।

इसी छोटी सी पुस्तिका से यह भली भाँति ज्ञात हो सकता है कि भारतीय वाङ्मय की प्रत्येक शाखा में प्रत्येक शताब्दी में जैनाचार्यों ने जो योगदान किया है वह नगण्य नहीं है। इस साहित्य को भी भारतीय साहित्य के इतिहास में उचित स्थान मिले और उसकी साम्प्रदायिक साहित्य के नाम पर उपेक्षा न की जाय तब ही भारतीय साहित्य अपने पूर्ण रूप में ज्ञात हो सकेगा अन्यथा वह विकल ही रहेगा।

निवेदक
दलसुख मालवणिया
मंत्री

२६–१०–५०

संपादक की ओर से

इस छोटी सी पुस्तिका में मैंने यथाशक्य जांच कर जैन ग्रन्थकारों का शताब्दी समय दिया है। पर मेरा निर्णय आखिरी है ऐसा में नहीं समझता। विद्वानों को इसे जांचना चाहिए और अन्तिम निर्णय पर आने का प्रयत्न करना चाहिऐ।

इसमें श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य साथ साथ दिया है। दोनों परंपरा की अलग अलग सूची बनाई गई थी और फिर सभी का पौर्वापर्य जांचने का सरल था नहीं अतएव मैंने दिगम्बराचार्यों के नाम प्रायः श्वेताम्बरों के नामों के अन्त में एकसाथ रख दिये हैं। इसका कोई यह अर्थ न करें की तत्तत् शताब्दी में वे सभी श्वेताम्बरों के बाद ही हुए हैं।

इस संकलन में मैंने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश ग्रन्थों को ही स्थान दिया है। सिर्फ श्री आनंदघन जी इसके अपवाद हैं। मेरा यह दावा तो नहीं है कि इसमें सभी ग्रन्थों का और ग्रन्थकारों का समावेश हो गया है। विषयक्रम भी ग्रन्थनाम से दिया गया है अतएव संभव है कि ग्रन्थ का विषय कुछ और हो, और उसे लिखा गया हो किसी अन्य विषय का। सभी ग्रन्थ देखना संभव नहीं था अतएव ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है। ग्रन्थ के नाम के बाद कहीं कहीं श्लोक शब्द लिखकर जो अंक दिये हैं वह ग्रन्थ परिमाण को सूचित करते हैं। और जहाँ ग्रन्थ नाम के बाद सिर्फ अंक दिये हैं उनसे उस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम संवत् में सूचित होता है।

इसको तैयार करने में श्री मो० द० देसाई के 'जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' का, श्री नाथुराम जी प्रेमी के 'जैनसाहित्य और इतिहास' का विशेष रूपसे उपयोग किया है अतएव मैं उनका आभार मानता हूँ।

बनारस
२५-११-४६

फतेहचन्द बेलानी

८४ आगम (श्वे० संमत)

१-११ ग्यारह अंग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक ।

१२-२३ बारह उपांग—औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा ।

२४-२७ चार मूलसूत्र—आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययनानि, पिंडनिर्युक्ति (अथवा ओघनिर्यक्ति)

२८-२९ दो चूलिका सूत्र—नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वार ।

३०-३५ छ छेद सूत्र—निशीथ, महानिशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, पंचकल्प (विच्छिन्न) ।

३६-४५ दश प्रकीर्णक—चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान, वीरस्तव, संस्तारक* ।

४६ कल्पसूत्र (पर्युषण कल्प, जिनचरित, स्थविरावलि, सामाचारी)

४७ यतिजीतकल्प (सोमप्रभसूरि) }
४८ श्राद्धजीतकल्प (धर्मघोषसूरि) } जीत कल्प

४९ पाक्षिक सूत्र (आवश्यक सूत्र का अंग)

५० क्षमापना सूत्र (आवश्यक सूत्र का अंग)

५१ वंदित्तु (")

५२ ऋषिभाषित

५३-७२ बीस अन्य पयन्ना—अजीवकल्प, गच्छाचार, मरणसमाधि, सिद्धप्राभृत, तीर्थोद्गार, आराधनापताका, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरण्डक, अंगविद्या, तिथिप्रकीर्णक, पिण्डविशुद्धि, सारावलि, पर्यन्ताराधना, जीवविभक्ति, कवच प्रकरण, योनिप्राभृत, अंगचूलिया, वग्गचूलिया, वृद्धचतुःशरण, जम्बूपयन्ना ।

---

*किसी के मत से 'वीरस्तव' और 'देवेन्द्रस्तव' दोनों का समावेश एक में है और 'संस्तारक' के स्थान में "मरण समाधि" और "गच्छाचपयन्नार" हैं ।

७३–८३ ग्यारह निर्युक्ति—(भद्रबाहुकृत)
आवश्यक निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति, उत्तराध्ययन नि०, आचारांग नि०, सूत्रकृतांग नि०, सूर्यप्रज्ञप्ति नि०, बृहत्कल्प नि०, व्यवहार नि०, दशाश्रुतस्कंध नि० ऋषिभाषित नि०, (अनुपलब्ध), संसक्त नि० ।*

८४ विशेष आवश्यक भाष्य† ।

विक्रमपूर्व शताब्दी चौथी

शय्यंभवसूरी(वीर०सं०७५-९८) आगम दशवैकालिक सूत्र,

विक्रम पूर्व तीसरी

भद्रबाहु स्वामी (वीर० सं० १७०) आगम छेद सूत्र–दशाश्रुत, व्यवहार बृहत्कल्प, निशीथ‡

विक्रम पूर्व दूसरी

श्यामाचार्य (वीर० सं० ३३४-७६) आगम पन्नापना सूत्र

विक्रम संवत् दूसरी

आर्य रक्षित	आगम	अनुयोगद्वारसूत्र
पादलिप्त सूरि	कथा	तरंगवतो (प्राकृत)
	ज्योतिष	ज्योतिषकरंडकटीका,
	प्रकरण	निर्वाण कलिका,
गुणाढ्य	कथा	बृहत् कथा

विक्रम दूसरी तीसरी

गुणधर	आगमिक	कसाय पाहुड,
पुष्पदंत-भूतबलि	आगमिक	षट्खंडागम

---

*'पिण्डनिर्युक्ति' को मूलसूत्रों में गिना गया है ।

†विच्छिन्न दृष्टिवाद का समावेश कर लेने से ८५ संख्या होती है। गणना का प्रकार अन्य भी देखा जाता है ।

‡पंचकल्प चूर्णि के मत से चार सूत्रों के कर्ता और आवश्यक निर्युक्ति के

कुंदकुंदाचार्य	आगमिक	प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, दशभक्ति बोधपाहुड, सुत्तपाहुड, भावपाहुड, षट्खंडागम की परिकर्म टीका
विमल	कथा	पउमचरिय

विक्रम तीसरी

शिवशर्म सूरि	कर्मशास्त्र	कम्मपयडी, शतक कर्म ग्रन्थ
उमास्वाति (मि)	आगमिक	तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य,
	भूगोल	जम्बूद्वीप समास, क्षेत्र विचार (?)
	आचार	प्रशमरति, श्रावक प्रज्ञप्ति (?) पूजा प्रकरण (?)

विक्रम चौथी-पांचवी

सिद्धसेन दिवाकर	दार्शनिक	सन्मति तर्क (प्रा०), न्यायावतार, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका (२२ मिलती हैं)

विक्रम पाँचवीं-छठवीं

भद्रबाहु	आगमिक	एकादशनिर्युक्ति—आवश्यक नि०, दशवैकालिक नि०, उत्तराध्ययन नि०, आचारांग नि०, सूत्रकृतांग नि०, सूर्यप्रज्ञप्ति नि०, दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार सूत्र नि०, पिण्ड—निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, बृहत्कल्प नि०, ऋषिभाषित नि० ।
वट्टकेर	आगमिक	मूलाचार
शिवार्य (शिवनंदि) यापनीय	आगमिक	आराधना* (२१७० गाथा)
सर्वनंदि	आगमिक	लोक विभाग (प्रा०, ५१४)
यति वृषभाचार्य	"	तिलोय पन्नत्ति (५३५)

---

* आराधना आश्रित साहित्य—

(१) अपराजित सूरि (विजयाचार्य) कृत विजयोदया टीका सबसे प्राचीन और प्रथम,

देवनंदि (पूज्यपाद-जिनेंद्र बुद्धि)	आगमिक	सर्वार्थसिद्धि, (तत्त्वार्थ टीका)
	व्याकरण	जैनेंद्र*, शब्दावतार न्यास (पाणिनि पर अनुपलब्ध)
	योग	समाधितंत्र
	वैद्यक	वैद्यकशास्त्र
	मंत्र	मंत्र यंत्र शास्त्र
	प्रकीर्णक	अर्हत्प्रतिष्ठा लक्षण (अनु०), सारसंग्रह(अनु०), जैनाभिषेक (अनु०), शान्त्यष्टक (अनु०), दशभक्ति इष्टोपदेश

छठवीं

देवर्धिगणि क्षमाश्रमण (देववाचक) (आगमों को पुस्तकारूढ किया)	आगम	नन्दीसूत्र
मल्लवादी	दार्शनिक	नयचक्र (द्वारशार), सन्मति-तर्क टीका (अनु०),
चन्द्रर्षि महत्तर	कर्मशास्त्र	पंचसंग्रह सटीक

(२) अमितगति संस्कृत आराधना,

(३) पं. आशाधर—मूलाराधना दर्पण

(४) प्रभाचंद्र—आराधना पंजिका, आराधना कथा कोश.

(५) पं. शिवलाल जी—भावार्थ दीपिका (१८२८), एक प्राकृत टीका (दोनों अनुपलब्ध)

(६) श्रीचंद—टिप्पण

(७) जयनंदि—टिप्पण

(८) देवसेन—कृत आराधनासार,

* जैनेन्द्र व्याकरण (अनेक शेप) पर टीकाएं

असल सूत्र पाठ ३००० सूत्र	आचार्य अभयनंदिकृत महावृत्ति श्लोक-१२००० नौवी-बारहवीं शताब्दी के बीच। श्रुत-कीर्तिकृत पंचवस्तु प्रकिया ३३००० श्लोक। प्रभाचंदकृत शब्दांभोजभास्कर न्यास १६००० श्लो. पर प्राप्य १२००० श्लोक। महाचंद्रकृत लघु-

संघदास क्षमाश्रमण	कथा	वसुदेव हिंडि
धर्मसेन गणि	आगमिक	पंचकल्प भाष्य (संघदास तथा धर्मसेन दोनों ने मिलकर)

विक्रम सातवीं

जिनभद्र क्षमाश्रमण	आगमिक	विशेषावश्यक भाष्य सटीक (६६६), जीतकल्पसूत्र, बृहत्संग्रहणी बृहत्क्षेत्रसमास, विशेषणवती,
कोट्टाचार्य	,,	विशेषावश्यक टीका
धर्मदास गणि (?)	औपदेशिक	उपदेशमाला (प्राकृत).
मानतुंग सूरि (?)	स्तोत्र	भक्तामर स्तोत्र
सिंहगणि (सिंहसूर)	दार्शनिक	नयचक्र की टीका
जिनदास महत्तर (चूर्णिकार)	आगमिक	नंदीसूत्र चूर्णि (६३५ में) निशीथसूत्र चूर्णि
समन्तभद्र	आचार	रत्नकरंडश्रावकाचार,*
	दार्शनिक	आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन,
	स्तोत्र	स्वयंभूस्तोत्र,

विक्रम आठवीं

कोट्याचार्य	आगमिक	विशेषावश्यकभाष्यटीका
हरिभद्रसूरि	आगमिक	अनुयोगद्वारवृत्ति, नन्दी लघु-वृत्ति, प्रज्ञापनासूत्र व्याख्या, आवश्यकलघुटीका, आवश्यक बृहत्टीका, ओघनिर्युक्तिवृत्ति,

पीछले सूत्र पाठ पर ३७००	गुणनंदिकृत प्रक्रिया-(शब्दार्णवप्रक्रिया-यही पीछला सूत्र पाठ माना जाता है। सोमदेव सूरि-कृत शब्दार्णव चन्द्रिका (गुणनंदिके शब्दार्णव पर यही टीका है) चारुकीर्तिकृत शब्दार्णव प्रक्रिया (जैनेन्द्रप्रक्रिया) जैनेन्द्र भाष्य (अनुपलब्ध)

* प्रो० हीरालालजी ने अन्य कर्तृक सिद्ध किया ह।

	जंवूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, जंवूद्वीप संग्रहणी, जीवाभिगमलघुवृत्ति, तत्त्वार्थसत्रलघुवृत्ति, पंचनियंठी, दशवैकालिक लघुवृत्ति और वृहद्वृत्ति, नन्द्यध्ययन टीका, पिंडनिर्युक्तिवृत्ति, प्रज्ञापनाप्रदेश व्याख्या,
दार्शनिक	अनेकांतजयपताका (सटीक) अनेकान्तवादप्रवेश, न्यायप्रवेश (दिङनाग) टीका, षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय (व्याख्यायुक्त),अनेकान्त प्रघट्ट*, तत्त्वतरंगिणी, त्रिभंगी-सार, न्यायावतारवृत्ति,* पंचलिंगी, द्विजवदनचपेटा, परलोकसिद्धि, वेदवाह्यतानिराकरण,षड्दर्शनी, सर्वज्ञसिद्धि, स्याद्वादकुचोद्य-परिहार,* धर्मसंग्रहणी, लोक-तत्त्व निर्णय,
योग	योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंदु, योगशतक,योगविंशति,षोडशक।
चरित्र-कथा	समराइच्चकहा, मुनिपतिचरित्र, यशोधरचरित्र, वीरांगद कथा, कथा कोश, नेमिनाथ चरिउ, धूर्ताख्यान,
भूगोल	लोकविंदु क्षेत्रसमास वृत्ति,
प्रकरण	अष्टकप्रकरण, उपदेशप्रकरण, धर्मविंदुप्रकरण, पंचाशक, पंच-वस्तु-(सटीका), पंचसूत्र-टीका,

* अनुपलब्ध

		श्रावक प्रज्ञप्ति, अर्हत्-श्रीचूडामणि, उपदेशपद, कर्मस्तववृत्ति, कुलकानि, क्षमा-वल्लीबीजम् , चैत्यवंदनभाष्य चैत्यवंदन वृत्ति, ज्ञानपंचमी विवरण, दर्शनशुद्धिप्रकरण, दर्शनसप्ततिका, देवेन्द्रनरेन्द्र प्रकरण, धर्मलाभ सिद्धि, धर्म-सार, ध्यानशतकवृत्ति, नाना-चित्रप्रकरण, यतिदिनकृत्य, लघुक्षेत्रसमास, लघुसंग्रहणी, आत्मानुशासन, वीरस्तव, व्यवहार कल्प,श्रावक प्रज्ञप्ति-वृत्ति, श्रावकधर्मतंत्र, संकित-पंचासी, संग्रहणीवृत्ति, पंचासित्तरि,संवोधसित्तरि,संवो-धप्रकरण,संसारदावानल स्तुति, दिनशुद्धि, प्रतिष्ठाकल्प, वृहन्मि-थ्यात्वमथनम्, ललितविस्तरा,
हरिषण	चरित्र	पद्मचरित–पद्मपुराण
अपराजितसूरि (यापनीय)	आगमिक	आराधना की विजयोदया टीका दशवैकालिक पर विजयोदया टीका
चतुर्मुख	पुराण	हरिवंश-पद्मपुराण
स्वयंभू		पउमचरिउ (अपभ्रंश), रिट्ठनेमिचरिउ–(हरिवंशपुराण)(") पंचमी चरिउ–(नागकुमार चरित्र) (") } तीनों पिता-पुत्र ने मिलकर बनाये ।

त्रिभुवन-स्वयंभू (स्वयंभू के पुत्र)	व्याकरण	स्वयंभू व्याकरण,
	स्तोत्र	स्वयंभू छंद
अकलंक	दार्शनिक	अष्टशती, लघीयस्त्रय, प्रमाण संग्रह, न्यायविनिश्चय सिद्धिविनिश्चय, तत्त्वार्थ की राजवार्तिक टीका

विक्रम नवमी

उद्योतन सूरि (दाक्षिण्यांक सूरि)	कथा	कुवलय माला (प्राकृत)
आचार्य जिनसेन	पुराण	हरिवंश पुराण
कवि परमेष्ठी		वागर्थ संग्रह
वीरसेन	आगमिक	धवला टीका जलधवलाटीका*
जिनसेन (वीरसेन के शिष्य)	आगमिक	जय धवला के ४० हजार श्लोक
	काव्य	पार्श्वाभ्युदय काव्य (८३५)
	इतिहास	आदिपुराण (त्रिषष्ठि चरित्र)†
शाकटायन (पाल्यकीर्ति) (यापनीय)	दार्शनिक	स्त्रीमुक्ति प्रकरण, केवलिभुक्ति प्रकरण,
	व्याकरण	शब्दानुशासन‡–अमोघवृत्ति
महासेन	चरित्र	सुलोचना कथा

---

* इस टीका में ६०००० श्लोक हैं उसमें बीस हजार श्लोक वीरसेन ने लिखे, बाकी के चालीस हजार श्लोक जिनसेन ने लिखे।

† इसमें २०३८० श्लोक जिनसेन ने लिखें, शेष तत्शिष्य, गुणभद्र ने लिखा, अर्थात् दोनों ने मिलकर आदिपुराण और उत्तरपुराण पूरा किया।

‡ शब्दानुशासन पर टीकाएं

स्वयंकृत—अमोघवृत्ति (स्वोपज्ञ)
प्रभाचन्द्रकृत—शाकटायन न्यास
यक्षवर्मा कृत—चिन्तामणि लघीयसी टीका
अजीतसेन कृत—मणि प्रकाशिका
अभयचंद्र कृत—प्रक्रिया संग्रह
भावसेन त्रैविद्य कृत—शाकटायन टीका
दयापाल कृत—रूप सिद्धि

[illegible]भंजन	चरित्र	यशोधर चरित्र
[illegible]नंजय	कोश	धनञ्जय नाम माला (अनेकार्थ नाममालायुक्त) (धनंजय निघण्टु नाम माला)
	काव्य	द्विसंधान काव्य× (राघव-पाण्डवीय)
	स्तोत्र	विषापहर स्तोत्र
विद्यानंद (राजमल्ल सत्य वाक्य के समकालीन)	दार्शनिक	आप्तपरीक्षा, प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, अष्टसहस्त्री, श्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र की टीका) विद्यानंदमहोदय (अनु०) युक्त्यनुशासन टीका, श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र

विक्रम दशवीं शताब्दी

जयसिंह सूरि	उपदेश	धर्मोपदेशमाला वृत्ति
शीलाचार्य (तत्त्वादित्य)	आगमिक	आचारांगटीका
		सूत्रकृतांगटीका
		जीवसमासवृत्ति
शिलांका देव (विमलमति)	चरित्र	चउपन्नमहापुरुसचरियं (१०००० श्लोक),
सिद्धर्षि (दुर्ग स्वामी के शिष्य)	दार्शनिक	न्यायावतार (सिद्धसेन) टीका
	कथा	उपमितिभवप्रपंचा कथा
		चंद्रकेवलीचरित्र
	उपदेश	उपदेशमाला (धर्मदास कृत)-विवरण
विजयसिंह सूरि	कथा	भुवन सुंदरी—८९११ गाथा

× द्विसंधान पर टीकाएं

नेमिचंद्र कृत—पदकौमुदी टीका

कवि देवर कृत—राघव-पांडवीय प्रकाशिका

पं बदरीनाथ कृत—संक्षिप्त टीका

महेश्वर सूरि	कथा	पंचमीमहात्म्यकथा
	काव्य	संयममंजरी (अपभ्रंश काव्य)
शोभन	स्तुति	शोभन स्तुति
गुणभद्र (जिनसेन के शिष्य)	पुराण	उत्तरपुराण(आदि पुराणका शेष)
	उपदेश	आत्मानुशासन
	चरित्र	जिनदत्त चरित्र
हरिषेण	कथा	आराधना कथाकोश १२५०० श्लोक
कवि पम्प	पुराण	आदिपुराण चम्पू विक्रमार्जुन विजय
कवि पोन्न	पुराण	शान्तिपुराण
देवसेन	आगमिक	दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्व-सार,
	दार्शनिक	लघुनयचक्र, बृहन्नयचक्र(सटीक), आलाप पद्धति टीका
	प्रकीर्णक	भावसंग्रह
धनपाल (धक्कड वंशीय)	कथा	भविसयत्त कहा (पंचमीकहा)
मणिक्यनंदि	दार्शनिक	परीक्षामुख
अनन्तवीर्य	"	सिद्धिविनिश्चय(अकलंक)की टीका

विक्रम ग्यारहवीं शताब्दी

जम्बूसूरि	चरित्र	मणिपति चरित्र (१००५)
	स्तुति	जिनशतक.
साम्बमुनि		जिनशतक की टीका
अभयदेवसूरि (तर्कपंचानन)	दार्शनिक	सन्मति (सिद्धसेन) की तत्त्वबोध-विधायिनी टीका (वादमहार्णव) २५००० श्लोक.
धनेश्वरसूरि (अभयदेव के शिष्य)	कथा	सुरसुंदरी कथा (?)
	स्तोत्र	शत्रुंजय माहात्म्य:

पुष्पदंत महाकवि	चरित्र	तिसट्ठिमहापुरुषगुणालंकारु (अपभ्रंश), णायकुमार चरिउ (नागकुमार-चरित्र) जसहरचरिउ
	पुराण	महापुराण (उत्तरपुराण)
	कोश	कोशग्रन्थ.
	स्तोत्र	शिवमहिम्नस्तोत्र.
आचार्य महासेन (जयसेन के शिष्य गुणाकरके शिष्य)	चरित्र	प्रद्युम्न चरित्र
श्री पद्मनंदि	भूगोल	जंबूदीवपन्नत्ति
नेमिचन्द्र (अभयनंदि के शिष्य)	कर्मशास्त्र	पंचसंग्रह (गोम्मटसार, गोम्मट-संग्रह, गोम्मट संग्रहसूत्र) लब्धि-सार (गोम्मटसार का परिशिष्ट
	भूगोल	त्रिलोकसार
चामुण्डराय (गोम्मटराय)	कर्मशास्त्र	गोम्मटसार की पीरमत्तंडी टीका (कनडी)
अजितसेन के शिष्य	आगमिक	चारित्रसार (तत्वार्थ विषयक)
	पुराण	चामुंडपुराण (त्रिपष्ठिलक्षण पुराण)
वीरनंदि (अभयनंदि के शिष्य)	चरित्र	चंद्रप्रभचरित्रमहाकाव्य
इन्द्रनंदि (,,)	चरित्र	श्रुतावतार (श्रुतपंचमी कथा)
कनकनंदि	दार्शनिक	त्रिभंगी
माधवचंद्र त्रैविद्य (नेमिचंद्र के शिष्य)	भूगोल	त्रिलोकसार की टीका
	कर्मशास्त्र	क्षपणसार
श्रीचंद्र	पुराण	महापुराण (पुष्पदंत) का * टिप्पण, पुराणसार.
	चरित्त	पद्मचरित(रविषेण) का टिप्पण

* एक भाग आदि पुराण, और दूसरा भाग उत्तर पुराण है। 'आदि पुराण' का टिप्पण अनुपलब्ध है। उत्तर पुराण का टिप्पण १२७०० श्लोक है।

प्रभाचन्द्र	आगमिक	रत्नकरंडटीका, द्रव्यसंग्रह-पञ्जिका, प्रवचनसरोजभास्कर, आराधनाकथाकोश, अष्टपाहुड-पञ्जिका, समयसारटीका, पञ्चास्तिकाय टीका, मूलाचार टीका,
	कथा	आराधना टीका,
	दार्शनिक	प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुद-चन्द्र, सर्वार्थसिद्धिटिप्पण (तत्त्वार्थटीका का विवरण), स्वयंभूस्तोत्रपञ्जिका
	व्याकरण	शब्दाम्भोजभास्कर न्यास (जैनेंद्र व्याकरण का भाष्य) क्रिया-कलाप टीका.
	योग	समाधितंत्र टीका,
	उपदेश	आत्मानुशासनतिलक, देवागमपञ्जिका (?)
वादिराज सूरि	दार्शनिक	न्यायविनिश्चय(अकलंक)टीका
	कथा	पार्श्वनाथचरित्र यशोधर चरित्र,
	स्तोत्र	एकीभाव स्तोत्र,अध्यात्माष्टक,
	भूगोल	त्रैलोक्य दीपीका,
मल्लिषेण	पुराण	महापुराण (त्रिषष्टिचरित्र)
	काव्य	नागकुमार महाकाव्य
	कल्प	भैरव-पद्मावती कल्प, सरस्वती मंत्र कल्प, ज्वालिनी कल्प,
वसुनंदि	आगमिक	उपासकाचार वृत्ति, (?) मूलाचार वृत्ति
	दार्शनिक	देवागम (समंतभद्र) पर टीका
	स्तुति	जिनशतक (समंतभद्र) पर टीका प्रतिष्ठासार संग्रह वृत्ति (?)

हरिचन्द्र कवि	काव्य	धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य
सोमदेव	आगमिक	षण्णवति प्रकरण (अनुपलब्ध)
	दार्शनिक	न्यायविनिश्चयसटीक (?) युक्तिचिंतामणि (अनु०), त्रिवर्ग महेन्द्रमातलि संजल्प (अनु०), स्याद्वादोपनिषत्
	चम्पू-चरित्र	यशस्तिलक चम्पू पार्श्वनाथ चरित्र
	राजनीति	नीतिवाक्यामृत
अनन्तकीर्ति	दार्शनिक	लघुसर्वज्ञसिद्धि, बृहत्सर्वज्ञसिद्धि, जीवसिद्धि, प्रमाणनिर्णय,
अमितगति (माथुर संघ के आचार्य, माधवसेन के शिष्य	आगमिक	उपासकाध्ययन (अमितगति श्रावकाचार), पंचसंग्रह संस्कृत आराधना (प्राकृत से संस्कृत), सामायिक पाठ (योग सार-प्राभृत), जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (अनु०), चंद्र प्रज्ञप्ति (अनु०), सार्धद्वयद्वीप प्रज्ञप्ति (अनु०), व्याख्या प्रज्ञप्ति (अनु०)
	प्रकीर्णक	भावना द्वात्रिंशिका, धर्म परीक्षा (१०७०), सुभाषितरत्नसंदोह,
हरिषेण		धर्म परीक्षा (१०४०)
श्रीपति भट्ट (केशवदेव के पौत्र और पुष्पदन्त के भतीजे)	ज्योतिष्	सिद्धान्तशेखर, ज्योतिष रत्न माला, दैवज्ञ वल्लभ, जातक, पद्धत्ति, गणिततिलक, वीज-गणित, श्रीपति निवंध, श्रीपति समुच्चय श्रीकोटिदकरण, ध्रुव-मानस करण
वर्धमान सूरि (१०८८ स्वर्ग)	औपदेशिक	उपदेश पद (हरिभद्र) की टीका उपदेश माला बृहत् टीका
	कथानक	उपमितिभवप्रपंचानामसमुच्चय

शान्ति सूरि वादिवेताल (शान्त्याचार्य स्वर्ग १०९६)	आगमिक	उत्तराध्ययन की पाइअ टीका
जिनचंद्रगणि (कुलचंद्रगणि देव-गुप्ताचार्य—तीन नामहै) कक्क सूरि के शिष्य		नवपद लघुवृत्ति, नव-पद प्रकरण,
वीराचार्य		आराधना पताका
जिनेश्वर सूरि (वर्धमान सूरि के शिष्य, खरतर गच्छ के स्थापक)	दार्शनिक	प्रमालक्ष्म सटीक, पंचलिंगी-प्रकरण
	कथा-चरित्र	निर्वाण लीलावतीकथा वीर चरित्र
	प्रकरण	हरिभद्र के अष्टकों पर टीका, षट्स्थानक प्रकरण
धनेश्वर सूरि	स्तोत्र	शत्रुंजय माहात्मय,
	कथा	सुर सुंदरी कथा (?)
बुद्धिसागर सूरि	व्याकरण	पंचग्रन्थी व्याकरण (गद्यपद्यात्मक ७००० श्लोक-संस्कृत-प्राकृत)
श्वेताम्वर सूरि (खड़गाचार्य)	काव्य	खड्ग काव्य
सूराचार्य		द्विसंधान काव्य, नेमि चरित्र
	पुराण	महाकाव्य (१०९०)
महा कवि धवल		हरिवंश पुराण (अपभ्रंश १८०० श्लोक
भरेश्वर सूरि	कथा	संयम मंजरी (अपभ्रंश)
श्रीचंद्रमुनि	"	महावीरोत्साह (") कथाकोश (अनु०)
सागरदत्त	चरित्र-पुराण	जंबू चरिउ (अप०) पार्श्व पुराण (अपभ्रंश)
नयनंदि	चरित्र-पुराण	सुदर्शन चरिउ (अपभ्रंश)

बारहवीं शताब्दी

अभयदेवसूरि (नवांगीटीकाकार, स्वर्ग ११३५ कपड़वंजमें)	आगमिक	ज्ञाताधर्मकथा टीका, (११२० विजयादशमी), स्थानांग टीका (११२०), समवायांग टीका (११२०), भगवती टीका (११२८), उपासकदशा टीका अन्तकृद्दशा टीका, अनुत्तरोप-पातिक टीका, प्रश्नव्याकरण टीका, विपाक टीका, औपपातिक टीका, प्रज्ञापना टीका, षट्स्थानक भाष्य, पंचाशक वृत्ति, आराधना कुलक
	स्तुति	जयडतिहुअण स्तोत्र (अपभ्रंश)
जिनचंद्रसूरि		संवेगरंगशाला (११२५)
कविसाधारण (सिद्धसेनसूरि)	कथा	विलासवती कथा (समराइच्च कथा से उद्धृत अपभ्रंश ११२३)
नमिसाधु	आगमिक	चैत्यवंदन (आवश्यक) वृत्ति (११२२)
		धर्मोपदेशमाला विवरण (प्रा. ११२९)
नेमिचंद्रसूरि (आम्रदेव के शिष्य)	,,	उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका
	कथा-चरित्र	रत्नचूड कथा, महावीरचरियं प्राकृत (११३९) आख्यान मणिकोश.
गुणचंद्रसूरि (सुमति वाचक शिष्य)	,,	महावीरचरित्र (११३९)
शालीभद्रसूरि (थारापद्रगच्छीय)	आगमिक	संग्रहणी वृत्ति
चन्द्रप्रभ महत्तर	चरित्र	विजयचन्द्र चरित्र(११२७–३७)
वर्धमानाचार्य (नवांगी टीकाकार अभयदेव के शिष्य)	,,	मनोरमा चरित्र (११४०)
		आदिनाथ चरित्र (११६०)
	प्रकीर्णक	धर्मरत्नकरंडवृत्ति (११७२)

चन्द्रप्रभसूरि (पौर्णमिक गच्छके स्थापक ११४९)	दार्शनिक	प्रमेयरत्न कोश
	आगमिक	दर्शनशुद्धि,
जिनवल्लभसूरि (नवांगी अभयदेव के पास पुनर्दीक्षा लेकर उनके पट्टधर, पहले जिनेश्वर के शिष्य थे, स्वर्ग ११६७)	आगमिक	सूक्ष्मार्थसिद्धान्तविचार (सार्धशतक) आगमिकवस्तुविचार सार, षडशिति पिण्डविशुद्धि प्रकरण, प्रतिक्रमण सामाचारी, अष्टसप्ततिका पौषधविधि प्रकरण, संघपट्टक, धर्मशिक्षा, द्वादशकुलक, प्रश्नोत्तरशतक,
	काव्य	शृंगारशतक, स्वप्नाष्टक विचार, चित्रकाव्य,
	स्त्रोत्र	अजितशांतिस्तव, भावारिवारण स्तोत्र, जिनकल्याणक स्तोत्र, वीरस्तव, आदि करीब सौ स्तोत्र, प्रशस्तियां
शान्ति सूरि (पूर्णतल्लगच्छीय)	दार्शनिक	न्यायावतार वार्तिक और वृत्ति
	काव्य-टीका	तिलक मंजरी टिप्पण, वृन्दावन-घटखर्पर-मेघाभ्युदय-शिवभद्र-चन्द्रदूत काव्यों की वृत्ति
जिनदत्तसूरि (दादा) जिनवल्भल के शिष्य	चरित्र	गणधरसार्धशतक, गणधर सप्तति
	आगमिक	कालस्वरूप कुलक, विंशिका, चर्चरी, संदेहदोलावलि, सुगुरु पारतंत्र्य,
	स्तोत्र	स्वार्थाधिष्ठायिस्तोत्र, विघ्नविनाशिस्तोत्र, अवस्था कुलक, चैत्यवन्दन कुलक,
	उपदेश	उपदेश रसायन,
रामदेवगणि (जिनवल्लभ के शिष्य)	कर्मशास्त्र	षडशिति टिप्पनक (११७३) सत्तरी टिप्पनक (११७३)
जिनभद्रसुरि (जिनवल्लभ के शिष्य)	कोश	अपवर्गनाममाला कोश (पंचवर्ग परिहार नाममाला)

पद्मानंद (गृहस्थ)		वैराग्यशतक
कवि श्रीपाल	प्रबंध	वैरोचन पराजय-महाप्रबंध,
	स्तोत्र	सहस्त्रलिंग सरोवर प्रशस्ति, दुर्लभ सरोवर प्रशस्ति, रुद्रमाल प्रशस्ति, आनंदपुरवप्रप्रशस्ति (१२०९)
हेमचंद्रसूरि (बृहद्गच्छीय)	काव्य	नाभेय-नेमि द्विसंधान काव्य.
देवभद्रसूरि (नवांगीटीकाकार अभयदेवके प्रशिष्य)	उपदेश	आराहणासत्थ, संवेगरंगशाला
	कथा-चरित्र	वीरचरियं, कहारयणकोसो (११५८), पार्श्वनाथ चरित्र (११६५)
वीरगणि (समुद्रघोषसूरि)	आगमिक	पिंडनिर्युक्ति वृत्ति (११६९)
वर्धमानसूरि (नवांगी टीकाकार अभयदेव के शिष्य)	चरित्र	आदिनाथ चरित्र (११६०)
	प्रकरण	धर्मकरंड सटीक (११७२)
मुनिचन्द्रसूरि (वादीदेवसूरि के गुरु वडगच्छीय)	आगमिक	सूक्ष्मार्थसार्घशतक–चूर्णि (११६८) सूक्ष्मार्थविचारसार चूर्णि(११७०)आवश्यक सप्तति
	कर्मशास्त्र	कर्म्म प्रकृति का टिप्पन,
	दार्शनिक	अनेकान्त जयपताका वृत्ति का टिप्पन (११७६)
	काव्य-टीका	नैषध काव्य पर टीका
	टीका	चिरंतनाचार्य रचित (हरिभद्र सूरि रचित ?) देवेंद्रनरेंद्र प्रकरण पर वृत्ति–(११६८) उपदेशपद (हरिभद्र)का टिप्पन, (११७४) ललितविस्तरा (हरिभद्र) की पंजिका, धर्म-बिंदु की वृत्ति,
	प्रकरण	अंगुलसप्तति, वनस्पतिसप्तति-का, गाथाकोश, अनुशासनांकुश

		कुलक, उपदेशामृत कुलक, प्राभातिक स्तुति, मोक्षोपदेश पंचाशिका, उपदेश पंचाशिका, रत्नत्रय कुलक, शोकहर उपदेश, सम्यक्त्वोत्पाद विधि, सामान्य-गुणोपदेश कुलक, हितोपदेश कुलक, कालशतक कुलक, मंडल विचार कुलक, द्वादशवर्ग।
वादी देवसूरि (मुनिचंद्र के शिष्य) जन्म ११४३, दीक्षा ११५२ आचार्य ११७४, स्वर्ग १२२६	दार्शनिक	प्रमाणनयतत्त्वालोक—'स्याद्वाद-रत्नाकर' टीका युक्त (८४००० श्लोक)
	आगमिक	मूलशुद्धि की स्थानक टीका (स्थानकानि)
देवचन्द सूरि (हेमचन्द्राचार्य के गुरु)	चरित्र	शान्तिनाथ चरित्र(प्रा०)११६०
शान्तिसूरि (वृहद्गच्छ)	,,	पृथ्वीचन्द चरित्र
हेमचन्द्र (पूर्णतल्लगच्छ) जन्म ११४५, दीक्षा ११५४ आचार्य ११६६, स्वर्ग १२२९	व्याकरण	सिद्धहेमशब्दानुशासन बृहद् वृत्ति—लघुवृत्ति धातुपारायण, उणादिसूत्रवृत्ति, लिङ्गानुशासन वृहन्न्यास सहित।
	काव्य	द्व्याश्रय (संस्कृत) ,, (प्राकृत) कुमारपाल चरित।
	कोष	अभिधानचिन्तामणि सटीक, अनेकार्थ संग्रह सटीक, देशीनाम-माला सटीक, निघंटुशेष
	अलंकार	काव्यानुशासन—अलंकार चूडा-मणि और विवेक सहित।
	छंद	छन्दोनुशासन सटीक
	दार्शनिक	प्रमाणमीमांसा, अन्ययोगव्यव-च्छेदिका। वादानुशासन(अनु०)

	पुराण	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित परिशिष्ट पर्व सहित
	योग	योगशास्त्र-सटीक
	स्तोत्र	अयोगव्यवच्छेदिका, वीतराग स्तोत्र, महादेव स्तोत्र
	नीति	अर्हन्नीति (?)
देवसूरि(वीरचंद्रसूरि के शिष्य)	आगमिक	जीवानुशासन सटीक (११६२)
धर्मघोपसूरि (चन्द्रप्रभ सूरि-पौर्णमिक गच्छस्थापक के शिष्य)	व्याकरण	शब्दसिद्धि
	स्तोत्र	ऋषि मंडल स्तोत्र
यशोदेवसूरि (उपकेशगच्छीय)	आगमिक	नवपद (देवगुप्त कृत) प्रकरण वृत्ति की बृहद्वृत्ति (११६५) नवतत्त्व प्रकरण की वृत्ति ११७४
	चरित्र	चंद्रप्रभ चरित्र प्रा० ११७८
विनयचंद्र	कथा	कथानक कोश ११६६
धनेश्वर सूरि	आगमिक	सूक्ष्मार्थ विचार सार की वृत्ति (१४००० श्लोक०; ११७१)
श्रीचंद्रसूरि (पार्श्वदेव सूरि) धनेश्वर के शिष्य	आगमिक	निशीथ चूर्णि (जिनदास) की विंशोद्देशक व्याख्या ११७४ श्रावकप्रतिक्रमण सूत्र की वृत्ति १२२२ नंदी टीका दुर्गपद व्याख्या, सुख-बोधा सामाचारी, जीतकल्प बृहत् चूर्णि की व्याख्या १२२७ निरयावलि की वृत्ति १२२८ चैत्यवंदनसूत्रवृत्ति, सर्व सिद्धान्त विषमपद व्याख्या,
	दार्शनिक	न्यायप्रवेशक (दिङ्नाग) की हारिभद्रीय वृत्ति की पञ्जिका ११६९

	चरित्र	मुनिसुव्रत चरित्र (?)
	स्तोत्र-कल्प	प्रतिष्ठा कल्प, उपसर्गहर स्तोत्र (भद्रबाहु) की टीका (?)
यशोदेव सूरि (वीरगणि के शिष्य श्रीचंद्रसूरि के शिष्य)	आगमिक	पंचाशक (हरिभद्र) की चूर्णि, ११७२
		ईर्यापथिकी चूर्णि, चैत्यवंदन चूर्णि वंदनक चूर्णि, पिंडविशुद्धि (जिन वल्लभ) लघुवृत्ति ११७६, पाक्षिक सूत्र की सुखविबोधा टीका ११८०, पच्चक्खाणसरूव ११८२
हेमचंद्र सूरि—*मलधारी	आगमिक	विशेषावश्यकभाष्य की बृहत् वृत्ति (२८०० श्लो०; ११७५) आवश्यक टिप्पनक (आवश्यक प्रदेश व्याख्या) ५००० श्लोक, अनुयोगद्वार वृत्ति, जीवसमास वृत्ति (७००० श्लो० ११६४) नंदीसूत्र टिप्पनक
	कर्मशास्त्र	शतकनामा कर्म ग्रंथ पर वृत्ति ४००० श्लो०
	उपदेश	उपदेशमाला सटीक १४००० श्लोक
		भवभावनासटीक (१३००० श्लो०; ११७०)
अमरचंद्र सूरि (नागेन्द्र गच्छीय, आनंद सूरि के गुरुभाई)		सिद्धान्तार्णव (?)
हरिभद्र सूरि (आनंद सूरि के पट्टधर)		तत्त्वप्रबोध

---

* विशेषावश्यक भाष्य बृहदवृत्ति में उनके सात सहायकों के नाम

१ अभय कुमार गणि
२ धनदेव गणि
३ जिनभद्र गणि
४ लक्ष्मण गणि
५ विबुध चंद्र गणि
६ आनंद श्री महत्तरा साध्वी
७ वीरमति गणिनि साध्वी

हरिभद्र सूरि (जिनदेव उपाध्याय के शिष्य)	कर्मशास्त्र	बंधस्वामित्व-षडशिति-कर्म ग्रन्थ की वृत्ति ११७२
	चरित्र	मुनिपतिचरित्र प्रा०, श्रेयांस चरित्र,
	उपदेश	प्रशमरति (उमास्वाति) की वृत्ति ११८५
	भूगोल	क्षेत्रसमास की वृत्ति
जिनेश्वर सूरि	चरित्र	मल्लिनाथ चरित्र प्रा०११७५
विजय सिंह आचार्य चंद्र गच्छीय	आगमिक	प्रतिक्रमण सूत्र की चूर्णि ४५०० श्लो०; ११८३
धर्मघोष सूरि (राजगच्छीय शील-भद्र सूरि के शिष्य)		धर्म कल्पद्रुम ११८६
यशोभद्रसूरि (धर्मघोष के शिष्य)		गद्य गोदावरी ग्रंथ
महेन्द्र सूरि	कथा	नर्मदा सुंदरी कथा ११८७
आम्रदेव सूरि (वडगच्छीय जिन चंद्र सूरि के शिष्य	कथा	आख्यानमणिकोश (नेमिचंद्रसूरि) की टीका ११९०
नम्न सूरि		धम्मविहि
सिद्धसूरि (उपकेशगच्छीय देव-गुप्त सूरि के शिष्य)	भूगोल	क्षेत्र समास पर वृत्ति ११९२
नयमंगल आचार्य	अलंकार	कवि शिक्षा
विजयसिंह सूरि (मलधारी हेम-चंद्र के शिष्य)	उपदेश	धर्मोपदेशमाला विवरण १४४७१ श्लो.; ११९१
श्रीचंद्रसूरि "	आगमिक	संग्रहणीरत्न प्रा.
	चरित्र	मुनिसुव्रत चरित्र १०९९४ गाथा; ११९३
विबुधचंद्रसूरि "		क्षेत्रसमास
लक्ष्मणगणि "		सुपासनाहचरियं
देवभद्रसूरि (मलधारी श्रीचंद्र सूरि के शिष्य)		संग्रहणी (श्रीचंद्र) की वृत्ति

	दार्शनिक	न्यायावतार का टिप्पण
वर्धमानसूरि (गोविन्दसूरि के शिष्य)	व्याकरण	गणरत्नमहोदधि सटीक
	चरित्र	सिद्धराज वर्णन
सिंहसूरि	भूगोल	लोकविभाग (संस्कृत)
आचार्य अमृतचंद्र	आगमिक	तत्त्वार्थसार, पंचास्तिकाय टीका
	उपदेश	पुरुषार्थसिद्धयुपाय
वादीभसिंह (पुष्पसेन के शिष्य) (ओडयदेव)		गद्यचूडामणि, क्षत्रचूडामणि,
वाग्भट	काव्य	नेमिनिर्वाण महाकाव्य, *
	अलंकार	वाग्भटालंकार ‡
जयकीर्ति	छन्द	छंदोनुशासन
देवचंद्रसूरि (वष्टिदेव)		सुलसाख्यान, (अपभ्रंश)
	स्तोत्र	मुनिचंद्रस्तव (अपभ्रंश)
जिनदत्तसूरि		चर्चरी, उपदेशरशायन रास, कालस्वरूप कुलक (तीनों अपभंश)
वाहिल	चरित्र	पउमसिरि चरिय, (अप.)

तेरहवीं शताब्दी

मलयगिरि	व्याकरण	मलय गिरि व्याकरण (मुष्टि व्याकरण) ६००० श्लोक

---

* इसपर भट्टारक ज्ञानभूषण कृत पंजिका है।

‡ वाग्भटालंकार पर टीकाएँ।

१ जिनवर्धमान सूरिकृत

२ सिंहदेवगणि कृत

३ क्षेमहंसगणि कृत

४ राजहंस उपाध्यायकृत

५ वादिराज कृत-कविचन्द्रिका टीका,

६ गणेश वैष्णव कृत,

	आगमिक	आवश्यक बृहद्वृत्ति, ओघनिर्युक्ति वृत्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति वृत्ति, जीवाभिगम वृत्ति, ज्योतिष्क रंडक टीका, नंदी सूत्र टीका, पिंड निर्युक्ति वृत्ति, प्रज्ञापना वृत्ति बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति, भगवती द्वितीय शतक वृत्ति, राजप्रश्नीय वृत्ति, विशेषावश्यक वृत्ति (?) व्यवहार सूत्र वृत्ति, क्षेत्र समास (जिनभद्र) वृत्ति, कर्मप्रकृति टीका, धर्मसार टीका, पंचसंग्रह (चंद्रर्षिमहत्तर)टीका, षड्शिति वृत्ति, सप्ततिका (कर्मग्रन्थ) टीका ।
	दार्शनिक	धर्मसंग्रहणी टीका,
लक्ष्मण गणि मलधारी हेमचंद्र के शिष्य	चरित्र	सुपासनाह चरियं(१०००० श्लो. ११९९)
जिनभद्र	औपदेशिक	उपदेशमाला १२०४
चन्द्रसेन (चांद्रकुलीय प्रद्युम्न सूरि के शिष्य)	दार्शनिक	उत्पादादि सिद्धि सटीक
नेमिचंद्र		अनन्तनाथ चरित्र (१२१३)
कनकचंद्र		पृथ्वीचंद्र टिप्पण (१२२६)
		शीलभावना वृत्ति (१२१४)
श्रीचंद्रसूरि (चन्द्र गच्छीय देवेन्द्र सूरि के शिष्य)		सनत्कुमार चरित्र (८००० श्लो. १२१४)
श्री चंद्र सूरि (मलधारी हेमचंद्र के शिष्य)	आगमिक	आवश्यक प्रदेश व्याख्या पर टिप्पन १२२२
मुनिरत्नसूरि (पौर्णमिक गच्छीय समुद्रघोष सूरि के शिष्य)	चरित्र	अममस्वामि चरित्र (१२२४) अंबड चरित्र, मुनिसुव्रत चरित्र

सोमप्रभ सूरि (वडगच्छीय)	"	सुमतिनाथ चरित्र (प्रा०) कुमारपाल प्रतिबोध (१२४१)
	काव्य	शतार्थ काव्य (सं) सूक्ति-मुक्तावलि, सिंदुरप्रकर-सोमशतक १२३३-३५
विजयसिंह सूरि (चांद्र-गच्छीय)	भूगोल	जम्बूद्वीप समास (उमास्वाति) टीका-विनेयजनहिता (२२१४) क्षेत्रसमास (जिनभद्र) वृत्ति(?)
हरिभद्र सूरि वडगच्छीय		चौवीस तीर्थंकर चरित्र, (चंद्रप्रभ, मल्लि, नेमि उपलब्ध १२१६; श्लोक. २४०००
पद्मप्रभ सूरि	ज्योतिष	भुवनदीपक ग्रहभावप्रकाश (१२२१)
परमाणंद सूरि (शांति सूरि शिष्य अभयदेव सूरि के शिष्य)		कर्मविपाक (गर्गर्षि) टीका (प्रथमकर्म ग्रन्थ पर)
रामचंद्र सूरि (हेमचंद्र के शिष्य) एक सौ प्रबन्ध के कर्ता	आगमिक	द्रव्यालंकार स्वोपज्ञ वृत्ति युक्त
	दार्शनिक	व्यतिरेक द्वात्रिंशिका
	व्याकरण	सिद्धहेम न्यास(५३००० श्लो०)
	नाटक	सत्यहरिश्चन्द्र नाटक, निर्भयभीमव्यायोग, राघवाभ्युदय, यदुविलास रघुविलास, नलविलास, मल्लिकामकरन्द रोहिणीमृगांक, वनमाला, सुधाकलशकोश,कौमुदीमित्राणंद नाट्यदर्पण सटीक
	स्तोत्र	कुमार विहारशतक, युगादिदेव द्वात्रिंशिका, प्रासाद द्वात्रिंशिका मुनिसुव्रत द्वात्रिंशिका, आदिदेव स्तव, नाभिस्तव, सोलह स्तवन,

महेन्द्र सूरि(हेमचन्द्र के शिष्य)	कोष	अनेकार्थ संग्रह कोश पर अनेकार्थ कैरवाकरकौमुदी टीका १२४१
वर्धमान गणि (")	नाटक	कुमार विहार शतक पर व्याख्या चंद्रलेखा विजय नाटक
बालचन्द्र (")	"	मानमुद्रा भंजननाटक, (अनुपलब्ध) स्नातस्या स्तुति
रामभद्र (देवसूरि संतानीय जय प्रभ सूरि के शिष्य)	"	प्रबुद्धरौहिणेय नाटक
यशःपाल मंत्री	"	मोहपराजय नाटक
आचार्य मल्लवादी	दार्शनिक	धर्मोत्तर टिप्पनक
नरपति (धारा के आम्रदेव का पुत्र)	शकुनग्रंथ	नरपतिजयचर्या
प्रद्युम्नसूरि (वादिदेव सूरि के शि० महेन्द्र सूरि के शिष्य)	दार्शनिक	वादस्थल (जिनपति का खंडन)
जिनपति सूरि	"	प्रबोध्यवादस्थल (ऊपर के ग्रन्थ का खंडन)
	प्रकरण	तीर्थमाला, संघ पट्टक (जिन वल्लभ) बृहद्वृत्ति पंचलिंगि (जिनेश्वर) विवरण
रत्नप्रभ सूरि (वादीदेवसूरि के शिष्य)	दार्शनिक	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका
	चरित्र	नेमिनाथ चरित्र प्रा० १२२३ उपदेशमाला (धर्मदास) दोघट्टी वृत्ति
महेश्वर सूरि (")		पाक्षिक सप्तति पर सुखप्रबोधिनी वृत्ति
सोमप्रभ सूरि		कुमारपाल प्रतिबोध (१२४१)
हेमप्रभ सूरि (पौर्णमिक यशोघोष सूरि के शिष्य)	प्रकीर्णक	प्रश्नोत्तर रत्नमाला(विमलसूरि) पर वृत्ति (१२४३)

परमाणंद सूरि (वादी देव सूरि के प्रशिष्य)	दार्शनिक	खंडन मंडन टिप्पन
देवभद्र (अभयदेव की परंपरा में)	दार्शनिक	प्रमाण प्रकाश
	चरित्र	श्रेयांस चरित्र
सिद्धसेन सूरि (देवभद्र के शिष्य)	आगमिक	प्रवचनसारोद्धार (नेमिचंद्र) पर तत्त्वज्ञान विकाशिनी टीका (१२४८)
		सामाचारी
	चरित्र	पद्मप्रभ चरित्र
	स्तोत्र	स्तुतियां
आसड	काव्य	मेघदूत टीका
	स्तोत्र	जिन स्तोत्र स्तुतियाँ
	औपदेशिक	उपदेश कंदली
		विवेक मंजरी
यशोभद्र (धर्मघोष के प्रशिष्य)		गद्य गोदावरी
नेमिचंद्र	आगमिक	प्रवचनसारोद्धार की विषमपदव्याख्याटीका
		शतककर्म ग्रन्थ पर टिप्पनक
		कर्मस्तव टिप्पनक
पृथ्वीचंद्र		कल्प टिप्पनक
उदयसिंह (श्रीप्रभ के शिष्य)		धर्मविधि (श्रीप्रभ) टीका (१२५३)
देवसूरि	चरित्र	पद्मप्रभ चरित्र प्रा० (१२५)
नेमिचन्द्र श्रेष्ठी	औपदेशिक	सट्ठिसय (षष्ठिशतक)
		उपदेश रसायन (जिनदत्त) का विवरण, द्वादशकुलक (जिनवल्लभ) विवरण (१२९३)
	चर्चा	चर्चरी (जिनदत्त) विवरण
मलयप्रभ (मानतुंगसूरि के शिष्य)	स्वप्न	स्वप्नविचार भाष्य,
		सिद्ध जयंति (मानतुंग) वृत्ति (१२६०)

तिलकाचार्य (स्वर्ग० १३०८)	आगमिक	जीतकल्प वृत्ति १२७४ सम्यक्त्व प्रकरण–दर्शनशुद्धि टीका (दादागुरु ने प्रारम्भ की हुई पूरी की) १२७७ आवश्यक निर्युक्ति लघुवृत्ति, दशवैकालिक टीका श्रावक प्रायश्चित्त समाचारी पोषध प्रायश्चित्त समाचारी वंदनक प्रत्याख्यान लघुवृत्ति, श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र लघुवृत्ति पाक्षिकसूत्र–पाक्षिक क्षामणकावचूरि।
जिनपाल (जिनपतिसूरि के शिष्य)		षट्स्थानक (जिनेश्वर) वृत्ति १२६२
	दार्शनिक	पंचलिंगीविवरण टिप्पन १२९३
	चरित्र	सनत्कुमार चरित्र
धर्मघोष (अंचलगच्छीय)		शतपदी प्रश्नोत्तर पद्धति प्रा० १२६३
वस्तुपाल	काव्य	नारायणानंद काव्य १२७७-८७
जिनदत्तसूरि (वायडगच्छीय)		विवेक विलास
अमरचन्द्र सूरि (जनदत्त के शिष्य)	व्याकरण	स्यादिशब्दसमुच्चय
	काव्य	कविकल्पलता सटीक, कविशिक्षावलि, काव्यकल्पलता परिमल सटीक,पद्मानंद काव्य (जिनेन्द्र चरित्र) कलाकलाप वालभारत
	छंद	छन्दोरत्नावलि
	अलंकार	अलंकार प्रबोध
	सुभाषित	सूक्तावलि

बालचन्द्र	काव्य	वसंतविलास काव्य
	औपदेशिक	उपदेश कंदली पर टीका १२७८
		विवेक मंजरी पर टीका „
	नाटक	करुणावज्रायुध नाटक
देवेन्द्र सूरि	चरित्र	चन्द्रप्रभचरित्र १२६४
गुणवल्लभ	व्याकरण	व्याकरण चतुष्कावचूरि(१२७२)
अजितदेव	योग	योगविद्या
हरिभद्र	चरित्र	मुनिपति चरित्र १२७३
पूर्णभद्र	कथा-चरित्र	दश उपासक कथा १२७५
विजयपाल	नाटक	द्रौपदी स्वयंवर नाटक
वर्धमान सूरि	चरित्र	वासुपूज्य चरित्र १२२९
जयसिंह सूरि	काव्य	वस्तुपाल तेजपाल प्रशस्तिकाव्य
	नाटक	हम्मीरमदमर्दन नाटक(१२७६-८६)
उदयप्रभ सूरि	काव्य	सुकृतकल्लोलिनी (प्रशस्ति काव्य)
	चरित्र	धर्माभ्युदय महाकाव्य (संघाधिपतिचरित्र) नेमिनाथ चरित्र
	ज्योतिष	आरम्भसिद्धि
	कर्मशास्त्र	षडशिति और कर्मस्तव पर टिप्पन
	उपदेश	उपदेशमाला (धर्मदास) कर्णिका टीका (१२९९)
माणिक्यचंद्र सूरि	चरित्र	पार्श्वनाथ चरित्र १२७६
		शांतिनाथ चरित्र
	काव्य	काव्य प्रकाश संकेत (काव्य प्रकाशकी टीका (१२७६)
देवप्रभ सूरि	चरित्र	पांडव चरित्र, मृगावती चरित्र, काकुत्स्थ केलि

नरचंद्र सूरि (देवप्रभ के शि०)	व्याकरण	प्राकृतदीपिका प्रवोध
	कथा	कथारत्न सागर
		अनर्घराघव (मुरारिकृत) टिप्पन
	दार्शनिक	न्यायकंदली (श्रीधर) टीका
	ज्योतिष	ज्योतिःसार (नारचंद्र ज्योतिः-सार)
	स्तोत्र	चतुर्विंशति जिन स्तुति
नरेन्द्रप्रभ	अलंकार	अलंकारमहोदधि
अभयदेव सूरि (द्वितीय)	काव्य	जयंत विजय काव्य (१२७८)
श्रीप्रभ सूरि	व्याकरण	कारक समुच्चय (हेमचंद्र) वृत्ति (१२८०)
लक्ष्मीधर	कथा	तिलकमंजरी कथासार
पूर्णभद्र गणि	चरित्र	अतिमुक्तक चरित्र १२८२
	,,	धन्य शालीभद्र चरित्र १२८५
	,,	कृतपुण्य चरित्र १३०५
वप्पभट्टि	अलंकार	काव्यशिक्षा
विनयचंद (वप्पभट्टि के शिष्य)	चरित्र	मल्लिनाथ चरित्र
		पार्श्वनाथ चरित्रादि २० प्रबंध
		कविशिक्षा (?) १२८५
सर्वदेव	स्वप्न	स्वप्नसप्ततिका वृत्ति
महेन्द्र सूरि (धर्मघोष के पट्ट शि०)		शतपदी (धर्मघोष) विस्तार १२९४
	स्तोत्र	तीर्थमाला स्तोत्र सटीक प्रा०
		जीरावल्ली पार्श्व स्तोत्र
भुवनतुंग सूरि	आगमिक	चतुःशरणावचूरि
पद्मप्रभ सूरि	चरित्र	मुनिसुव्रत चरित्र, कुंथुचरित्र, पार्श्वस्तव भुवनदीपक १२९४
सुमतिगणि (जिनपति सूरि के शिष्य)		गणधरसार्धशती (जिनदत्त) बृहद्वृत्ति १२९४

उदयसिंह सूरि	आगमिक	पिण्डविशुद्धि (जिनवल्लभ) दीपिका सूत्रसहित
गुणाकर सूरि	आयुर्वेद	योगरत्नमाला (नागार्जुन) वृत्ति १२९९
मलधारी पद्मप्रभ	आगमिक	नियमसार तात्पर्य टीका
समन्तभद्र (लघु)	दार्शनिक	अष्टसहस्त्रीविषमपदतात्पर्य टीका
शिवकोटि(समन्तभद्र के शिष्य)	आगमिक	तत्त्वार्थ टीका
पं० आशाधर	आयुर्वेद	अष्टांग हृदय सटीक, अष्टांग हृदय द्योतिनी टीका
	आगमिक	धर्मामृत शास्त्र
		मूलाराधना टीका, सागार धर्मामृत टीका १२८५
		अनगारधर्मामृत टीका १३००
		आराधना सार टीका
	दार्शनिक	प्रमेयरत्नाकर
	कोश	अमरकोश पर टीका,
	व्याकरण	क्रिया कलाप
	अलंकार	काव्यालंकार पर टीका
	चरित्र	त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र १२९२
		भरतेश्वराभ्युदय
		राजीमती विप्रलम्भ
	कल्पादि	जिनयज्ञकल्प, ज्ञान दीपिका, इष्टोपदेश,
		भूपाल चतुर्विंशतिका टीका
		सहस्त्रनाम स्तव सटीक, नित्य महोद्योत, रत्नत्रय विधान, भव्य कुमुद चंन्द्रिका टीका
	योग	अध्यात्म रहस्य,
शुभचन्द्र (मेघचंद त्रैविद्य के शिष्य	योग	ज्ञानार्णव (योग प्रदीप)१२०७-८४ के बीच

धनपाल	कथा	तिलकमंजरी कथासार १२६१
माघनन्दि	आगमिक	शास्त्रसार समुच्चय
	कल्प	प्रतिष्ठा कल्प

१३ वीं सदी अपभ्रंश

हेमचन्द्राचार्य		अपभ्रंशव्याकरण
अमरकीर्ति	कर्मशास्त्र	छक्कम्मोवएस (१२४७)
योगचन्द्र (योगीन्द्रदेव)		योगसार, परमात्मप्रकाश
माइल्ल धवल		दर्शनशास्त्र (देवसेन) दोहा में किया।
हरिभद्रसूरि		नेमिनाहचरिय ८०३२ गाथा
वरदत्त		वज्रस्वामी चरित्र
रत्नप्रभ		अंतरंगसिद्धि, कुछ कुलक
जयदेवगणि		भावना संधि
रत्नप्रभाचार्य		उपदेशमाला दोघट्टी के कुछ अंश
सोमप्रभ सूरि		कुमारपाल प्रतिबोध के कुछ अंश

चौदहवीं शताब्दी

देवेन्द्रसूरि (जगत् चन्द्र सूरि के शिष्य) स्वर्ग० १३२७	कर्मशास्त्र	पांच नव्य कर्मग्रन्थ सटीक (कर्मविपाक कर्मस्तव, बंधस्वामित्व, षडशिति, शतक)
	आगमिक	तीन भाष्य
		श्रावक दिनकृत्य सवृत्ति,
		धर्मरत्नटीका
		सिद्धपंचाशिका (?)
	चरित्र	सुदर्शनाचरित्र,
	प्रकीर्णक	दानादिकुलक, अनेक स्तवन-प्रकरण आदि
सर्वानन्द	चरित्र	चन्द्रप्रभचरित्र (१३०२)

परमानन्दसूरि(नवांगी०अभयदेव के शिष्य)	उपदेश	हितोपदेशमाला वृत्ति (१३०४)
यशोदेव	उपदेश	धर्मोपदेश प्रकरण प्रा०
अजितप्रभसूरि	चरित्र	शान्तिनाथ चरित्र १३०७
	उपदेश	भावनासार
जिनेश्वरसूरि	विधिविधान	श्रावकधर्मविधि (१३१३) बृहद्वृत्तियुक्त (१३२७)
पूर्णकलश (जिनेश्वर के शिष्य)	व्याकरण	द्वयाश्रय(हेमचन्द्र)वृत्ति १३०७ (प्राकृत)
लक्ष्मीतिलक "	चरित्र	प्रत्येकबुद्ध चरित्र (सं०)१३११
चन्द्रतिलक उपाध्याय "	चरित्र	अभयकुमारचरित्र९०३६श्लोक, १३१२
धर्मतिलक "		उल्लासिक स्मरण टीका अजितशान्ति (जिनवल्लभ) टीका १३३२
अभय तिलक	दार्शनिक	पंचप्रस्थन्यायतर्क व्याख्या (न्यायलंकार टिप्पन) तर्क– न्याय सूत्र (अक्षपाद) टीका न्यायभाष्य (वात्स्यायन) टीका वार्तिक (भारद्वाज) टीका तात्पर्य टीका (वाचस्पति) की टीका न्यायतात्पर्य परिशुद्धि (उदयन) टीका न्यायालंकार वृत्ति(श्रीकंठ)टीका
	व्याकरण	सं० द्वयाश्रय (हेमचंद्र) वृत्ति
सुरप्रभ	काव्य	ब्रह्मकल्प
विद्यानन्द	व्याकरण	विद्यानन्द व्याकरण
जयमंगलसूरि	अलंकार	कविशिक्षा (१३२९-३०)

प्रबोधचन्द्र गणि	दार्शनिक	संदेहदोलावलि पर बृहद्वृत्ति (१३२१)
मुनिदेवसूरि	चरित्र	शान्तिनाथ चरित्र,
	उपदेश	धर्मोपदेशमाला पर वृत्ति
	कल्प	वर्धमानविद्याकल्प
	गणित	लीलावती वृत्तियुक्त
		गणित तिलक वृत्ति
	मंत्रतंत्र	मन्त्रराज रहस्य १३२२
		भुवनदीपक (पद्मप्रभसूरि) वृत्ति १३२६
नरचन्द्र (कासद्रहगच्छ)	ज्योतिष	प्रश्नशतक, जन्मसमुद्र सटीक
देवानन्द	व्याकरण	शब्दानुशासन
प्रद्युम्नसूरि (चांद्रगच्छीय)	आगमिक	प्रव्रज्याविधान-मूलशुद्धि प्रकरण (१३३८)
	कथा	समरादित्य संक्षेप १३२४
विजयचन्द्र सूरि	कल्प	दीपालिका कल्प (कल्प-निर्युक्तियुक्त)
रत्नप्रभसूरि		कुवलयमाला(दाक्षिण्यसिंहसूरि) प्राकृत से संस्कृत
प्रबोधमूर्ति	व्याकरण	दुर्गपदबोधटीका—कातंत्र व्याकरण पर-१३२८
सोमचन्द्र	छन्दःशास्त्र	वृत्तरत्नाकर पर टीका
धर्मघोषसूरि (देवेन्द्र के शिष्य)	आगमिक	संघाचारभाष्य-चैत्यवंदन भाष्य विवरण
		कालसप्तति सावचूरि-कालस्वरू विचार, श्राद्धजीतकल्प (प्राकृत)
	स्तोत्र	दुषमकाल संघस्तोत्र, चतुर्विंशति जिनस्तुति
सोमप्रभ (धर्मघोष के शिष्य)	आगमिक	यतिजीतकल्प
	स्तोत्र-स्तुति	२८ यमक स्तुति

क्षेमकीर्ति	आगमिक	बृहत्कल्पसूत्र (भद्रबाहु) विवृति १३३२
मानतुंगाचार्य	चरित्र	श्रेयांस चरित्र
धर्मकुमार	,,	शालिभद्र चरित्र (१३३८)
विवेकसागर	आगमिक	सम्यक्त्वालंकार,
	कथा-चरित्र	पुण्यसार कथानक
प्रभाचन्द्रसूरि	चरित्र	प्रभावक चरित्र १३३८
भालचन्द्र	उपदेश	विषयनिग्रहकुलक वृति
माणिक्यसरि	शकुन	शकुनसारोद्धार १३३८
उदयप्रभसूरि (विजयसेन के शिष्य)	काव्य	धर्माभ्युदय
मल्लिषेण (उदयप्रभ के शिष्य)	दार्शनिक	स्याद्वाद मंजरी (१३४९)
जिनप्रभसूरि	आगमिक	विधिप्रपा सामाचारी, १३६३
		संदेहविषौषधि (कल्पसूत्रटीका)
		साधुप्रतिक्रमणसूत्र वृत्ति १३६४
		आवश्यकसूत्रावचूरि
	व्याकरण	कातंत्र व्याकरण पर विभ्रम टीका १३५२
	व्याकरण-चरित्र	द्वयाश्रयकाव्य (श्रेणिक चरित्र-१३५६)
	कल्पस्तोत्रादि	विविधतीर्थकल्प सातसौ स्तवन,
		गौतमस्तोत्र, २४ जिनस्तुति,
		अजिनराज स्तवन प्रा०
		द्विअक्षरस्तवन (नेमिनाथ),
		पंचपरमेष्ठिस्तव आदि
		अजितशान्तिस्तवनवृत्ति,
		उपसर्गहरस्तोत्र वृत्ति,
		धर्माधर्मप्रकरण, भयहर
		(मानतुंग) स्तोत्रवृत्ति,
		चतुर्विध भावना कुलक,
	चर्चा	तपोमत कुट्टन,

		सूरिमन्त्रप्रदेशविवरण, महावीर स्तवनवृत्ति १३८०
जिनप्रभ सूरि	अपभ्रंश साहित्य	मदनरेखा सन्धि, मल्लि चरित्र, नेमिनाथ रास, ज्ञान प्रकाश, वयरस्वामि चरित्र, षट्पंचाशक दिक्कुमारिका अभिषेक, मुनिसुव्रत जन्माभिषेक, धर्माधर्म-विचार कुलक श्रावकविधि प्रकरण, चैत्य परिपाटी स्थूलभद्र फाग, युगादिजिन चरित्र कुलक
जिनप्रभ सूरि के शिष्य (??)	कथा-चरित	नर्मदासुंदरी सन्धि १३२८ गौतम स्वामि चरित्र
संघतिलक सूरि	आगमिक	सम्यक्त्व सप्ततिका
महेश्वर सूरि	कथा	कालकाचार्य कथा १३३५
मेरुतुंग	प्रबंध-चरित्र	प्रबंध चिन्तामणि १३६१ कामदेव चरित्र १४०१ सम्भवनाथ चरित्र १४१३
विजयसिंह सूरि	व्याकरण	हैमव्याकरण बृहद्वृत्ति पर दीपिका १३६८
फेरू (ज्योतिषाचार्य)	ज्योतिष विज्ञान	ज्योतिष सार सटीक द्रव्यपरीक्षा सटीक, रत्न परीक्षा सटीक, वास्तुसार (१३७२),
कमलप्रभ	चरित्र	पुंडरीक चरित्र
सोमतिलक (सोमप्रभ के शिष्य)	आगमिक	नव्य क्षेत्र समास १३७३ विचार सूत्र
		सप्ततिशतस्थानक, १३८७
	स्तोत्रस्तुति	सोमप्रभकृत २८ स्तुति पर वृत्ति

सुधाकलश (मलधारी राजशेखर के शिष्य)	संगीत	संगीतोपनिषत् १३८०, संगीत सार १४०६
	कोश	एकाक्षरनाममाला
जिनकुशल सूरि	आगमिक	चैत्यवंदन (जिनदत्त) कुलकवृत्ति
सोमतिलक (विद्यातिलक)	दार्शनिक	षड्दर्शन टीका १३९२
	प्रबंध	कुमारपाल प्रबंध
	कल्प-स्तोत्र	वीरकल्प (१३८९), लघुस्तव टीका १३९७
	उपदेश	शीलोपदेशमाला (जयतिलक) पर शीलतरंगिणी टीका
रत्नदेव गणि	सुभाषित	वज्जालय पर टीका १३९३
श्री तिलक		गौतमपृच्छा
सर्वानन्द सूरि	चरित्र	जगडु चरित्र
भुवनतुंग सूरि	आगमिक	आतुर प्रत्याख्यान वृत्ति, चतुःशरण वृत्ति
	स्तोत्र	ऋषिमंडल पर वृत्ति
हस्तिमल्ल कवि (गोविन्द भट्ट के पुत्र)	नाटक	विक्रान्त कौरव, सुभद्राहरण, मैथली कल्याण अंजनापवनंजय,
	चरित्र	आदिपुराण* (पुरु-चरित) श्रीपुराण*
	कल्प	प्रतिष्ठाकल्प
वागभट	काव्य शास्त्र	काव्यानुशासन स्वोपज्ञवृत्ति युक्त
	छन्द	वागभट छन्दोनुशासन
माघनन्दि सं० १३१७	आगमिक	माघनन्दि श्रावकाचार
	दार्शनिक	शास्त्रवार्ता समुच्चय पर टीका

---

*दोनों कनडी भाषा में

पंद्रहवीं शताब्दी

राजशेखर	दार्शनिक	स्याद्वादकलिका(स्याद्वाद दीपिका),
		रत्नाकरावतारिका पंजिका,
		षड्दर्शन समुच्चय,
		न्यायकंदली पंजिका,
	प्रबंध-चरित्र	प्रबंधकोश १४०५
		कौतुक कथा,
ज्ञानचंद	दार्शनिक	रत्नाकरावतारिका-टिप्पन,
गुणसमृद्धि महत्तरा (साध्वी)	चरित्र	अंजनासुंदरी चरित्र (प्राकृत) १४०६
मुनिभद्र	,,	शान्तिनाथ चरित्र,
सोमकीर्ति	व्याकरण	कातंत्रवृत्ति-पंजिका १४११
भवदेवसूरि	विधिविधान	यतिदिन चर्या-प्रा०
	चरित्र	पार्श्वनाथ चरित्र
		कालकाचार्य कथा,
जयसिंहसूरि	दार्शनिक	न्यायसार (भासर्वज्ञ) दीपिका
	व्याकरण	एक व्याकरण भी बनाया है,
	चरित्र	कुमारपाल चरित्र
गुणाकर	स्तोत्र	भक्तामर स्तोत्र वृत्ति १४२६
महेन्द्रप्रभसूरि	यंत्र-तंत्र	यंत्रराज १४२७
मलयेन्द्र (महेन्द्र के शिष्य)		यंत्रराज टीका
रत्नशेखर	आगमिक	गुणस्थान क्रमारोह सटीक १४४७
		संबोध सत्तरि
	भूगोल	लघुक्षेत्र समास सविवरण
	कथा	सिरिवाल कहा (प्रा० १४२८)
	छंद	छन्दकोश (")
	स्तोत्र-स्तुति	गुरुगुण षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशिका
	यंत्र-तंत्र	सिद्धयंत्रचक्रोद्धार
	प्रकीर्णक	प्रश्नोत्तर रत्नमाला पर वृत्ति
	उपदेश	दानोपदेशमाला सटीक

जयशेखर सूरि	आगमिक	कल्पसूत्र सुखावबोध विवरण
	दार्शनिक	न्यायमंजरी
	काव्य	धम्मिल चरित काव्य(१४६२), जैनकुमारसम्भव, नल-दमयंती चम्पू
	प्रकीर्णक	उपदेश चिन्तामणि सावचूरि, १४३६ प्रबोध चिन्तामणि १४६२ शत्रुंजय बत्रीशी, गिरनार बत्रिशी महावीर वत्रिशी, आत्मबोधकुलक धर्मसर्वस्व, उपदेशमाला अवचूरि, संबोध सप्ततिका,
महेन्द्रसूरि (स्व. १४४४)	स्तोत्र	तीर्थमाला विचार सप्ततिका (?)
मेरुतुंग (महेन्द्र सूरि के शिष्य)	आगमिक	सप्ततिभाष्य पर टीका १४४९ भावकर्म प्रक्रिया, शतकभाष्य,
	दार्शनिक	षड्दर्शन निर्णय
	व्याकरण	कातंत्र व्याकरण वृत्ति १४४४ धातुपारायण
	काव्य	मेघदूत सटीक
	स्तोत्र	नमोत्थुणं टीका
जयानन्द	चरित्र	स्थूलभद्र चरित्र
ज्ञानसागर (देवसुंदर के शिष्य)	आगमिक	आवश्यक अवचूर्णि १४४०, उत्तराध्ययन अवचूर्णि १४४१ ओघनिर्युक्ति अवचूर्णि १४४१
	स्तुति-स्तोत्र	मुनिसुव्रतस्तव, नवखंडपार्श्वस्तव आदि
कुलमंडन (देवसुन्दर के शिष्य)	आगमिक	प्रज्ञापना सूत्र अवचूरि १४४३, प्रतिक्रमण सूत्र अवचूरि,

		कल्पसूत्र अवचूरि
		पाक्षिकसत्तरि, अंगुलसत्तरि
		सिद्धान्तालापकोद्धार
	चरित्र-कथा	जयानंद चरित्र, मित्रचतुष्क कथा
	स्तुति	काव्य स्थिति स्तोत्र अवचूरि, स्तोत्ररत्न कोश शांतिकर स्तोत्र, सीमंधर स्तुति
	उपदेश	विचारामृतसार, उपदेश रत्नाकर सवृत्ति
साधुरत्न (देवसुन्दर के शिष्य)	आगमिक	यतिजीत कल्प वृत्ति १४५६
		नवतत्त्व अवचूरि
गुणरत्न * (,,)	आगमिक	कल्पान्तर्वाच्य १४५७
		सप्ततिका अवचूर्णि १४५९
		चार पयन्ना पर अवचूरि
		क्षेत्र समास (सोमतिलक) अवचूरि
		नवतत्त्व अवचूरि
		ओघनिर्युक्ति का उद्धार
	कर्मशास्त्र	देवेन्द्रीय कर्म ग्रन्थों पर अवचूरि
	दार्शनिक	षड्दर्शन (हरिभद्र) पर तर्क रहस्य दीपिका टीका १४६६
	व्याकरण	क्रियारत्न समुच्चय १४६६
मुनिसुन्दरसूरि (सोमसुन्दर के शिष्य)	न्यायादि	त्रैविद्यगोष्ठि (न्याय-व्याकरण-काव्य विषयक)
	चरित्र	गुर्वावलि
		अध्यात्मकल्पद्रुम ?
		त्रिदशतरंगिणी (विज्ञप्ति पत्र)
देवानन्द (देवमूर्ति)	आगमिक	क्षेत्र समास सटीक
नयचन्द्रसूरि	काव्य	'वीरांक' हम्मीर महाकाव्य
	नाटक	रम्भा मंजरी नाटिका

* देवसुन्दर के पांचवें शिष्य सोमसुन्दर सूरि

जयचन्द्र सूरि (सोमसुन्दर के शिष्य)	आगमिक	प्रत्याख्यानस्थान विरमण १५०६
		सम्यक्त्व कौमुदी
		प्रतिक्रमण विधि
भुवनसुन्दरसूरि (,,)	दार्शनिक	परब्रह्मोत्थापन
		लघु महा विद्या विडंबन,
	प्रकीर्णक	व्याख्यान दीपिका
		महाविद्या विवृति टिप्पन
जिनकीर्ति (,,)	चरित्र	धन्यकुमार चरित्र (दानकल्पद्रुम), श्रीपालगोपाल कथा
		चंपकश्रेष्ठिकथा
	स्तुत-स्तोत्र	नमस्कारस्तववृत्ति, पंचजिन स्तवन
		श्राद्ध गुण संग्रह
रत्नशेखरसूरि (सोमसुन्दर के शिष्य)	आगमिक	षडावश्यक वृत्ति,
		श्राद्धप्रतिक्रमण वृत्ति (अर्थदीपिका) १५०६
		आचार प्रदीप ?
	प्रकीर्णक	प्रबोध चन्द्रोदय वृत्ति
माणिक्यसुन्दर (जयशेखर—मेरुतुंगके शिष्य	कथा-चरित्र	चतुःपर्वी चम्पू १४६३
		श्रीधर चरित्र, गुणवर्म चरित्र धर्मदत्त कथानक, महाबल मलय सुन्दरी चरित्र
माणिक्य शेखर (,,)	आगमिक	कल्पनिर्युक्ति पर अवचूरि
		आवश्यक निर्युक्ति पर दीपिका
		पिंडनिर्युक्ति पर दीपिका
		ओघनिर्युक्ति दीपिका दशवैकालिक निर्युक्ति दीपिका
		उत्तराध्ययन निर्युक्ति दीपिका,
		आचारांग निर्युक्ति दीपिका
		नवतत्त्व विवरण

नमिसाधु	अलंकार	रुद्रालंकार टिप्पन रुद्रालंकार तात्पर्य परिशुद्धि (टीका)
देवमूर्ति	चरित्र	विक्रम चरित्र
गुणसमुद्रसूरि	कथा	जिनदत्त कथा १४७४
	खंडन-मुंडन	अंचलमतदलन
हर्षभूषण	आगमिक	श्राद्धविधि विनिश्चय, पर्युषणा विचार
जिनसुन्दर	कल्प	दीपालिका कल्प
चारित्रसुन्दर	काव्य	शीलदूत काव्य, कुमारपाल-चरित्र महाकाव्य
	चरित्र	महीपाल चरित्र
रामचन्द्रसूरि	चरित्र	विक्रम चरित्र १४९० पंचदण्डातपत्र (सिंहासन द्वात्रिंशिका (क्षेमंकर) के आधार से)
शुभशील (मुनिसुन्दर के शिष्य)	कथा-चरित्र	विक्रम चरित्र १४९०, भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति प्रभावक कथा १५०६
	व्याकरण	उणादि नाम माला
	कल्प	शत्रुंजय कल्प वृत्ति
जिनमण्डन	आगमिक	श्राद्धगुण संग्रह विवरण १४९८
	उपदेश	कुमारपाल प्रबोध १४९२
	चर्चा	धर्म परीक्षा
चरित्र रत्नगणि	उपदेश	दान प्रदीप
जिनहर्ष	कथा-चरित्र	वस्तुपाल चरित्र, रत्नशेखर कथा, आराम शोभा चरित्र
	आगमिक	विंशति स्थानक विचारामृत, प्रतिक्रमण विधि
कीर्तिराज उपाध्याय	काव्य	नेमिनाथ महाकाव्य १४१५

धीरसुन्दरगणि	आगमिक	आवश्यक निर्युक्ति पर अवचू
सोमसुन्दरसूरि	आगमिक	चउसरण पयन्ना-संस्कृत टीका
		आतुर प्रत्याख्यान अवचूरि
		सप्तति पर अवचुरि
	स्तुति-स्तोत्र	अष्टादश स्तव सावचुरि
मंडन मंत्री	व्याकरण	सारस्वत मंडन
	काव्य	काव्य मंडन, कविकल्पद्रुम
	चम्पू	चम्पू मंडन
	कथा	कादम्बरी मंडन, चंद्र विजय
	अलंकार	अलंकार मंडन
		शृंगार मंडन
	संगीत	संगीत मंडन
		उपसर्ग मंडन
धनराज (धनद)		शृंगार धनद १४१०
		नीति धनद ,,
		वैराग्य धनद ,,
		धनद त्रिशतिः ,,
ब्रह्मसूरि	नाटक	ज्योतिः प्रभाकल्याणक नाटक

सोलहवीं शताब्दी

गुणरत्न	प्रकीर्णक	षष्ठि शतक पर टीका
तपोरत्न	आगमिक	उत्तराध्ययन लघुवृत्ति
सोमधर्मगणि	उपदेश	उपदेश सप्ततिका
सोमदेवगणि	कथा	कथा महोदधि
	स्तुति	सिद्धान्त स्तव (जिनप्रभ) टीका
गुणाकरसूरि	आगमिक	सम्यक्त्व कौमुदी १५०४
	प्रकीर्णक	विद्यासागर
चारित्र वर्धन		सिंदुर प्रकर टीका १५०५
	काव्य	रघुवंश की टीका–शिशुहितैषिणी

उदय धर्म		वाक्य प्रकाश १५०७
सर्वसुंदर सूरि	चरित्र	हंसराज-वत्सराज चरित्र
मेघराज	स्तोत्र	वीतराग स्तोत्र
साधु सोम	चरित्र	महावीर चरित्र (जिनवल्लभ) वृत्ति
		पुष्पमाला वृत्ति
		नन्दीश्वर स्तवन वृति
ऋषि वर्धन		जिनेन्द्रातिशय पंचाशिका
धर्मचन्द्र गणि		सिंदुर प्रकर पर टीका
हेमहंस गणि	ज्योतिष	आरम्भ सिद्धि पर टीका
	व्याकरण	न्याय मंजुषा बृहद्वृति १५१६
ज्ञानसागर	चरित्र	विमलनाथ चरित्र
रत्नमंडन गणि	उपदेश	उपदेश तरंगिणी
	चरित्र	प्रबंधराज-(भोजप्रबंध) १५१७
शुभशील गणि	चरित्र	शालीवाहन चरित्र १५४०
	कल्प	शत्रूंजय कल्प १५१८
प्रतिष्ठा सोम	काव्य	सोम सौभाग्य काव्य
राजवल्लभ	आगमिक	षडावश्यक वृति १५३०
	कथा-चरित्र	चित्रसेन पद्मावती कथा
		भोज प्रवन्ध १५३०
सुधानन्द गणि के शिष्य	दार्शनिक	जल्पमंजरी
सत्यराज	चरित्र	पृथ्वीचन्द्र चरित्र १५३५
भावचन्द्र सूरि	चरित्र	शान्तिनाथ चरित्र
विनय भूषण	व्याकरण	स्यादिशव्द समुच्चय की टीका
सिद्धान्त सागर	स्तुति	चतुर्विंशति जिन स्तुति
सोम चारित्र	काव्य	गुरुगुण रत्नाकर काव्य
साधु विनय	दार्शनिक	वाद विजय प्रकरण १५४५-५१
		हेतुखंडन प्रकरण

सर्व विजय	चरित्र	दशश्रावक चरित्र
शुभ वर्धन	उपदेश	वर्धमान देशना
	चरित्र	दशश्रावक चरित्र
	स्तोत्र	ऋषिमंडल वृत्ति
जिन माणिक्य	चरित्र	कुर्मापुत्र चरित्र
कमल संयम उपाध्याय	आगमिक	उत्तराध्ययन टीका-सर्वार्थसिद्धि
		उत्तराध्ययन दीपिका
		सिद्धान्तसारोद्धार पर सम्यक्त्वोल्लास टिप्पन
	कर्मशास्त्र	कर्मस्तव विवरण
उदय सागर	आगमिक	उत्तराध्ययन दीपिका
कीर्ति वल्लभगणि	,,	उत्तराध्ययन पर वृत्ति १५५२
इन्द्रसिंह गणि	चरित्र	भुवनभानु चरित्र १५५४, बलिनरेन्द्र कथा
		मन्हजिणाणं पर कल्पवल्लीटीका
लब्धिसागर		श्रीपाल कथा १५५७
तिलक गणि	व्याकरण	प्राकृत शब्द समुच्चय १५६१
सिद्धान्तसार	दार्शनिक	दर्शनरत्नाकर १५७०
अनन्तहंस गणि	चरित्र	दशदृष्टान्त चरित्र १५७१
विनयहंस	आगमिक	दशवैकालिक वृत्ति
		उत्तराध्ययन वृत्ति
सोमदेवसूरि		कुमारपाल प्रबोध १५७३
		सम्यक्त्व कौमुदी १५७३
सौभाग्यनंदि	कथा	मौनएकादशी कथा
विद्यारत्न		कुर्मापुत्र चरित्र १५७५
लावण्य समय	चरित्र	विमल चरित्र १५७८
गजसार		विचारषड्त्रिंशिकासटीक १५७९
जिनहंससूरि	आगमिक	आचारांग दीपिका

सहजसुन्दर		रत्नश्रावक प्रबंध १५८२
हर्षकुल गणि	आगमिक	सूत्रकृतांग दीपिका १५८३
	व्याकरण	वाक्य प्रकाश
	कर्मशास्त्र	वन्धहेतूदय त्रिभंगी
लक्ष्मी कल्लोल	आगमिक	आचारांग अवचूर्णि
		ज्ञातासूत्र लघुवृत्ति (मुग्धाव-बोधा)
हृदय सौभाग्य	व्याकरण	हेम प्राकृतवृत्ति ढुंढिका पर व्युत्पत्ति दीपिका १५९१
श्रुतसागर १५५० करीब	आगमिक	तत्वार्थवृत्ति श्रुतसागरी टीका तत्वत्रय प्रकाशिका, षट्प्राभृत टीका
	व्याकरण	औदार्य चिन्तामणि सटीक
	कथा-चरित्र	यशस्तिलक (सोमदेव) चन्द्रिका, व्रतकथा कोश
	स्तोत्र	जिनसहस्र (आशाधर) टीका
	?	महाभिषक् (आशाधरका नित्य महोद्योत) टीका
	?	श्रुतस्कन्ध पूजा
ज्ञान भूषण भट्टारक	आगमिक	सिद्धान्तसार (जिनचन्द्रसूरि) भाष्य तत्वज्ञान तरंगिणी १५६० पंचास्तिकाय टीका (अनुपलब्ध)
	काव्य	नेमिनिर्वाण काव्य पंजिका (अनु.)
	उपदेश	परमार्थोपदेश (अनु०)
		दशलक्षणोद्यापन, भक्तामरोद्या-पन, सरस्वती पूजा (ये तीनों अनु०)
गुणभद्र भट्टारक	स्तोत्र	चित्रबन्ध स्तोत्र

सत्रहवीं शताब्दी

उदयधर्मगणि	आगमिक	जीवविचार (शान्ति सूरि) वृत्ति १६१०
	उपदेश	उपदेशमालाकी ५१वीं गाथा पर शास्त्रार्थ वृत्ति १६०१
जिनचन्द्र सूरि	विधि विधान	पोषधविधि पर वृत्ति १६१७
साधुकीर्ति		संघपट्टक पर अवचूरि १६१९
ज्ञानप्रमोद	छन्दःशास्त्र	वाग्भटालंकार परवृत्ति १६२१
हीरकलश	ज्योतिष	जोइस हीर प्रा० १६२१
धर्मसागर उपाध्याय	आगमिक	कल्प किरणावलि १६२८
		जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पर वृत्ति १६२९
	खंडन मंडन	औष्ट्रिकमतोत्सूत्रदीपिका (खरतरगच्छ खंडन) १६१७
		प्रवचन परीक्षा (कुपक्षकौशिकादित्य सवृत्ति) १६२९
	आगमिक	तत्वतरंगिणी वृत्ति, गुरुतत्व प्रदीपिका
		ईर्यापथिका षट्त्रिंशिका, गुर्वावलि सवृत्ति
		पर्युषणशतक सवृत्ति, सर्वज्ञशतक सवृत्ति
		वर्धमान द्वात्रिंशिका
विजयदेव सूरि (ब्रह्ममुनि) पार्श्वचंद्रीय	आगमिक	दशाश्रुतस्कन्ध पर जनहिता टीका
		जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पर वृत्ति
विजय विमल (वानर ऋषि) (आनंदविमल के शिष्य)	आगमिक	गच्छाचारपयन्ना पर लघु-वृहत् टीका १६३४
		तंदुलवैयालियपयन्ना पर अवचूरि
		भाव प्रकरण सटीक

	स्तोत्र	साधारण जिनस्तव पर अवचूरि
	कर्म शास्त्र	बन्धोदयसत्ता सटीक-सावचूरि १६२३
		बन्धहेतूदय (हर्षकुल) त्रिभंगी पर अवचूरि
	प्रकीर्णक	प्रतिलेखना कुलक
	व्याकरण	जिनेन्द्र अनिट्कारिका पर अवचूरि
नयरंग	चरित्र	परमहंस संबोध चरित १६२४ अर्जुनमालाकर
पद्मराज	स्तोत्र	रुचितदंडक स्तुति पर व्याख्या
चारित्र सिंह	व्याकरण	कातंत्र्य विभ्रम पर अवचूरि १६२५
दयारत्न	दार्शनिक	न्यायरत्नावलि १६२६
अजितदेव	आगमिक	पिंडविशुद्धि पर दीपिका
चन्द्रकीर्ति	व्याकरण	सारस्वत व्याकरण पर सुबोधिका दीपिका
	छन्द-शास्त्र	प्राकृत छन्दकोश (रत्नशेखरकृत) पर संस्कृत टीका १६१३
		सिद्धचक्र (रत्नशेखर) टीका
सकलचन्द्र गणि	उपदेश	ध्यान दीपिका १६२१
		धर्मशिक्षा, श्रुतास्वाद शिक्षाद्वार १६३०
	कल्प	प्रतिष्ठा कल्प १६३०
हेम विजय	चरित्र कथा	पार्श्वनाथ चरित्र, १६३२, कथारत्नाकर १६५७
	प्रकीर्णक	ऋषभशतक, अन्योक्तिमुक्तामहोदधि
		कीर्तिकल्लोलिनी, सूक्तरत्नावलि
		सद्भाव शतक, चतुर्विंशति स्तुति
		स्तुतित्रिदशतरंगिणी कस्तुरी प्रकर
		विजय स्तुति

	काव्य	विजय प्रशस्ति*(१६ सर्ग पर्यन्त)
वीरभद्र	श्रृङ्गार	कन्दर्प चूडामणि १६३३
पद्मसागर	दार्शनिक	नयप्रकाशाष्टक सटीक, युक्ति प्रकाश सटीक प्रमाण प्रकाश सटीक
	काव्य	जगद्गुरु काव्य संग्रह १६४६ उत्तराध्ययन कथा संग्रह (प्राकृत से. संस्कृत) १६५७
	कथाचरित्र	तिलक मञ्जरी वृत्ति, यशोधर चरित्र
	प्रकीर्णक	शील प्रकाश, धर्म परीक्षा
रवि सागर	कथाचरित्र	रूपसेन चरित्र, प्रद्युम्न चरित्र मौन एकादशी कथा
पुण्यसागर	आगमिक	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति १६४५
	काव्य	प्रश्नोत्तर काव्य (जिनवल्लभ) वृत्ति
पद्मराज		रुचितदंडक स्तुति (भुवनहित) वृत्ति १६४४
जयसोम	विधि विधान	इरियावहिका त्रिशिका सटीक १६४०
	,,	पोषध प्रकरण सटीक १६४५
समय सुंदर	आगमिक	कल्पसूत्र पर कल्पलता वृत्ति दशवैकालिक पर शब्दार्थ वृत्ति १६११ जीव विचार-नवतत्त्व दंडक पर वृत्ति १६९८
	कथा	चातुर्मासिक पर्व कथा, कालकाचार्य कथा (गद्य-पद्य)

---

*शेष पांच सर्ग और सम्पूर्ण टीका उनके गुरुभाई विद्याविजय के शिष्य गुण विजयजी ने की । टीका का नाम विजयदीपिका है १६८८ ।

	काव्य	रघुवंश पर वृत्ति
		अष्टलक्षी ('राजानो ददते सौख्यं' की) अर्थ रत्नावलि वृत्तियुक्त १६४६-७६
	छन्द:शास्त्र	वृत्त रत्नाकर पर वृत्ति १६१४
	प्रकीर्णक	रूपकमालावृत्ति, समाचारी शतक, विशेष शतक, विचार शतक, विसंवाद शतक, विशेष संग्रह, गाथा सहस्री, जयतिहुअण स्तोत्र वृत्ति, संवाद सुन्दर, कल्याण मंदिर वृत्ति दुरियरयसमीर (जिनवल्लभ) स्तोत्र वृत्ति
गुण विनय	काव्य	खंडप्रशस्तिकाव्य पर वृत्ति, रघुवंश टीका १६४६
		लघुशान्ति टीका १६५१
	कथा	दमयंती कथा (त्रिविक्रम) वृत्ति
	स्तुति-स्तोत्र	अजित शान्ति (जिनवल्लभकृत) पर मितभाषिणी वृत्ति,
	प्रकीर्णक	वैराग्यशतक पर टीका, संबोध सप्ततिका (जयशेखर) वृत्ति, इन्द्रियपराजयशतक टीका, हीर प्रश्न (प्रश्नोत्तर समुच्चय) संकलित किया।
गुण विजय	खंडन-मंडन	उत्सूत्रोद्घाटन कुलक (धर्मसागर का खंडन)
शान्तिचन्द्र गणि (सकलचंद्र के शिष्य)	आगमिक	जम्बूदीव पन्नत्ति पर प्रमेयरत्न मञ्जुषा
	काव्य	खीमसौभाग्याभ्युदय ग्रन्थ १६५०
	स्तुति	अजित शान्ति स्तव,
		विवरण सूक्तिद्वात्रिंशिका पर

प्रीति विमल	कथा	चम्पक श्रेष्ठि कथा
देवविजय	कथा-चरित्र	जैनरामायण, पांडव चरित्र गद्य १६६०
	प्रकीर्णक	सप्ततिशत स्थानक वृत्ति, धर्मरत्न मञ्जुषा (दानादिकुलक वृत्ति १६६६
विनय कुशल		मण्डल प्रकरण स्वोपज्ञ १६५२ विचार सप्ततिका वृत्ति १६७५
कनक कुशल	कथा	सौभाग्य पंचमी कथा, सुरप्रिय मुनि कथा, रौहिणेय कथानक,
	स्तुति-स्तोत्र	जिनस्तुति १६४१, कल्याण-मंदिर टीका विशाल लोचन सूत्रवृत्ति,१६५३ साधारण जिनस्तवन पर अव-चूरि, रत्नाकर पच्चीसी टीका
ज्ञानविमल	व्याकरण	शब्दप्रभेद (महेश्वर कृत) व्याकरण पर वृत्ति १६५४
वल्लभ उपाध्याय	कोश	अभिधाननाममाला पर सारोद्धार वृत्ति, शिलोञ्छ कोश (जिनेश्वर कृत) पर टीका
	व्याकरण	लिंगानुशासन (हेम) दुर्गप्रबोध टीका
	काव्य	विजयदेवमाहात्म्य काव्य सटीक
	स्तोत्र	अरनाथ स्तुति सवृत्ति
हर्ष कीर्ति	व्याकरण	सारस्वत दीपिका, सेट् अनिट् कारिका विवरण, धातुपाठ तरंगिणी, शारदीय नाममाला
	छन्दःशास्त्र	श्रुतबोध वृत्ति
	योग	योग चिन्तामणि

	वैद्यक	वैद्यक सारोद्धार
	स्तुति-स्तोत्र	वृहत्शान्ति पर टीका १६५५
		कल्याण मन्दिर टीका
	प्रकीर्णक	सिंदूर प्रकर टीका
रविसागर		मौन एकादशी माहात्म्य १६५७
नगर्षिगणि	आगमिक	स्थानांग दीपिका
		कल्पान्तर्वाच्य (प्राकृत-१६५७)
	स्तोत्र	जिनसहस्त्र नाम १६५८ जिनस० की टीका
ज्ञानतिलक		गौतम कुलक पर वृत्ति १६६०
वृद्धि विजय	कथा	चित्रसेन-पद्मावती कथा १६६०
हंस प्रमोद		सारंगसार वृत्ति
आनन्द विजय		त्रिभंगी सूत्र(हर्षकुल) वृत्ति
मेरु विजय		वीरजिनस्तुति सावचूरिक
शुभ विजय	आगमिक	कल्पसूत्र पर वृत्ति १६७१
	दार्शनिक	तर्कभाषा वार्तिक १६६३
		स्याद्वाद भाषा १६६७
	कोश	हैमी नाम माला
	काव्य	काव्यकल्पलतावृत्तिमकरंद १६६५
	प्रकीर्णक	सेन प्रश्न (संकलन) १६५७
		प्रश्नोत्तर रत्नाकर १६७१
जयविजय		शोभनस्तुति पर वृत्ति १६७१
भानुचन्द्र उपाध्याय	व्याकरण	सारस्वत व्याकरण टीका
	कथा	कादम्बरी पूर्वभाग टीका
		रत्नपाल कथानक
		विवेक विलास पर टीका
	शकुन	वसन्तराज पर टीका
	स्तोत्र	सूर्य सहस्रनाम

सिद्धि चन्द्र उपाध्याय (भानुचन्द्र के शिष्य)	व्याकरण	धातु मन्जरी, अनेकार्थनाममाला पर वृत्ति
	कथा चरित्र	कादम्वरी उत्तर भाग पर टीका
		वासवदत्ता पर वृत्ति
		भानुचन्द्र चरित्र
	स्तुति-स्तोत्र	भक्तामर टीका, शोभन स्तुति पर टीका
		वृद्धप्रस्तावोक्ति रत्नाकर
मानसागर		शतार्थी पर वृत्ति
नय विजय गणि (विजय सेन सूरि के शिष्य)		पुद्गलभंगविवृति प्रकरण
हर्ष नन्दन गणि		मध्याह्न व्याख्यान, आदिनाथ व्याख्यान, ऋषिमण्डल स्तोत्र पर वृत्ति
रत्नचंद्र (शांन्ति चन्द्र के शिष्य)	चरित्र-काव्य	प्रद्युम्न चरित्र महाकाव्य १६७१
		नैषध काव्य पर टीका
		रघुवंश पर टीका
	स्तुति-स्तोत्र	भक्तामर-कल्याण मंदिर-श्रीमत् धर्मस्तव-देवा प्रभोः स्तव-ऋषभ-वीरस्तव पर वृत्ति
	अध्यात्म	कृपारसकोश पर वृत्ति
		अध्यात्मकल्पद्रुम (मुनिसुंदर) पर कल्पलता टीका
	खंडन-मंडन	कुमताहिविषभंगुलि (धर्मसागर का खंडन) १६७१
साधु सुंदर	व्याकरण-कोष	उक्ति रत्नाकर (प्राकृत सम संस्कृत शब्द संग्रह) १६७०-७४
		धातुपाठ पर धातुरत्नाकर सटीक १६८०
		टीका क्रियाकल्पलता

तेजपाल	कल्प	दीपालिका कल्प पर अवचूरि
संघ विजय	आगमिक	कल्पसूत्र दीपिका
चारित्रसिंह	व्याकरण	कातंत्र विभ्रम पर अवचूर्णि १६७५
		विचार षट्त्रिंशिका (गजस्वर कृत दंडक पर वृत्ति) १६७५
श्रीपति	ज्योतिष	जातक कर्म पद्धति
		जिन वृषम समवरण प्रकर
		भविक प्रकर
देव विमल गणि (श्रीपति के शिष्य)	काव्य	हीरसौभाग्य काव्य सटीक
सुमति हर्ष	ज्योतिष	जातककर्मपद्धति (श्रीपति) टीका
		बृहत्पर्वमाला(ताजिक सार टीका)
		गणककुमुदकौमुदी (भास्कर कृत कर्ण कुतूहल पर टीका)
जय विजय	आगमिक	कल्पसुत्र पर कल्प दीपिका १६७७
रामचन्द्र सूरि		दशवैकालिक वार्तिक १६७८
सहजकीर्ति गणि	व्याकरण	सारस्वत व्याकरण पर टीका १६८१
		समद्वीपि शब्दार्णव व्याकरण—
		ऋजुप्राज्ञ व्याकरण प्रक्रिया
		एकादिशतपर्यन्त शब्दसाधनिका
		नाम कोश (छकांड)
	कल्प	कल्पमञ्जरी
	स्तुति	महावीर स्तुति वृत्ति
		अनेक शास्त्रसार समुच्चय
साधु सुन्दर		पार्श्वनाथ स्तुति
उदयकीर्ति	व्याकरण	पदव्यवस्था (विमल कीर्ति)टीका १६८१

राज सुन्दर		चतुर्दशी-पाक्षिक विचार १६८४ पार्श्व स्तुति (जिसमें प्रत्येक चौथा चरण भक्तामरके श्लोकों का प्रथम चरण है।)
देवसागर गणि	कोश	अभिधान चिन्तामणि पर व्युत्पत्ति रत्नाकर टीका १६८६
गुण विजय	काव्य	विजय प्रशस्तिका शेष भाग पूरा किया और पूरे काव्य पर विजय दीपिका टीका लिखी १६८८
चरित्र विजय गणि	आगमिक	कल्पकल्पलता टीका
भाव विजय	आगमिक	उत्तराध्ययन टीका १६८१
	दार्शनिक	षट्त्रिंशत् जल्प विचार
	चरित्र	चम्पक माला चरित्र
महिमसिंह गणि	काव्य	मेघदूत पर टीका १६९३
श्रीविजय गणि	,,	रघुवंश पर टीका, कुमार संभव पर टीका
जिन विजय	व्याकरण	वाक्य प्रकाश सावचूरि कथारूप में १६९४
विनय विजय उपाध्याय	आगमिक	कल्पसूत्र सुबोधिका १६९६ लोक प्रकाश
	दार्शनिक	नयकर्णिका, षट्त्रिंशत्जल्पसंक्षेप
	व्याकरण	हेमलघु प्रक्रिया सटीक १७१०
	काव्य	इन्दुदूत
	स्तुति स्तोत्र	शान्ति सुधारस, अर्हन्नमस्कार स्तोत्र जिनसहस्र नाम
हितरुचि	आगमिक	षडावश्यक सूत्र पर व्याख्या १६९७

माणिक्यचन्द्र	स्तोत्र	कल्याण मंदिर दीपिका
दानचन्द्र	कथा	ज्ञान पञ्चमी कथा (वरदत्त-गुणमंजरी कथा) १७००
पद्मसागर	आगमिक	जीवाजीवाभिगम सूत्र पर टीका १७००
नयकुञ्जर	आगमिक	प्रवचनसार
घन विजय	सुभाषित	आभाणशतक १६१६
वादिचन्द्र सूरि १६४८ के करीब (प्रभाचन्द्र के शिष्य)	काव्य	पवनदूत
	चरित्र	यशोधर चरित्र १६५७
	पुराण	पार्श्वपुराण १६४०
	प्रकीर्णक	ज्ञानसूर्योदय
विक्रम (सांगण के पुत्र)	चरित्र	नेमिदूत-नेमचरित्र
भट्टारक शुभ चन्द्र		अंगपन्नति (प्राकृत)
	दार्शनिक	तत्त्वनिर्णय, स्वरूप संबोधन टीका, षड्वाद
	व्याकरण	चिन्तामणि व्याकरण (प्राकृत)
	आगमिक	स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका १६१३
		नित्य महोद्योत (आशाधर) टीका
		पार्श्वनाथ काव्य (वादिराज) पंजिका टीका
	कथा-चरित्र	चन्द्रप्रभ-पद्मनाभ-जीवंधर चरित्र चंदना कथा, नंदीश्वर कथा, करकंडु चरित्र १६११
	पुराण	पांडव पुराण १६०८
	स्तुति-स्तोत्र	त्रिंशत् चतुर्विंशति पूजापाठ, सिद्धचक्रव्रतपूजा, सरस्वती पूजा, चिन्तामणि यंत्र पूजा, कर्मदहन विधान

गणधरवलयपूजा, पल्यव्रतोद्यापन
१२३४
व्रतोद्यापन, अध्यात्मपद टीक
सर्वतोभद्र टीका, अनेक स्तोत्र
खंडन-मंडन संशयवदनविदारण (श्वेतांबर खंडन
अपशब्द खंडन

अठारहवीं शताब्दी

आनन्दघनजी		आनन्द घन बहत्तरी (गुजराती)
यशोविजयजी		
दीक्षा १६८८, स्व० १७४३ नयविजय के शिष्य विनय विजय उ. के गुरुबंधु	अध्यात्म	अध्यात्ममतपरीक्षा, अध्यात्म सार, अध्यात्मोपनिषद् आध्यात्मिक मत दलन (स्वोपज्ञटीका) उपदेशरहस्य (सटीक), ज्ञानसार, परमात्मपंचविंशतिका, परम ज्योतिपंचविंशतिका, वैराग्य कल्पलता, अध्यात्मोपदेश ज्ञानसारावचूर्णि
	दार्शनिक	अष्टसहस्री विवरण अनेकान्त व्यवस्था ज्ञानविन्दु, जैनतर्कभाषा, देव धर्मपरीक्षा, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका, धर्मपरीक्षा, नयप्रदीप, नयोपदेश, नयरहस्य, न्याय खण्डखाद्य वीरस्तव, न्यायालोक, भाषारहस्य, शास्त्रवार्तासमुच्चय टीका—स्याद्वाद कल्पलता उत्पाद व्ययध्रौव्यसिद्धिटीका ज्ञानार्णव, अनेकान्त प्रवेश, आत्मख्याति,

	तत्त्वालोकविवरण, त्रिसूत्र्यालोक, द्रव्यालोकविवरण, न्याय बिन्दु, प्रमाण रहस्य, मंगलवाद वादमाला, वाद महार्णव, विधिवाद, वेदान्तनिर्णय, सिद्धान्ततर्क परिष्कार, सिद्धान्तमञ्जरी टीका, स्याद्वादमञ्जुषा–स्याद्वाद मंजरीटीका, द्रव्यपर्याययुक्ति
आगमिक	आराधकविराधकचतुर्भंगी, गुरुतत्त्वविनिश्चय, धर्मसंग्रहटिप्पन, निशाभक्तप्रकरण, प्रतिमाशतक, मार्गपरिशुद्धि यतिलक्षण समुच्चय, सामाचारी प्रकरण, कूपदष्टान्तविशदीकरण, तत्त्वार्थ टीका, अस्पृशद्गतिवाद
योग	योगविंशिका टीका, योग दीपिका (षोडशक वृत्ति), योग दर्शन विवरण
कर्मशास्त्र	कर्मप्रकृति टीका, कर्मप्रकृति लघुवृत्ति।
स्तोत्र	ऐन्द्रस्तुति चतुर्विंशतिका, स्तोत्रावलि, शंखेश्वर पार्श्वनाथ स्तोत्र समीकापार्श्वनाथ स्तोत्र, आदिजिन स्तवन, विजयप्रभसूरि स्वाध्याय, गोडीपार्श्वनाथ स्तोत्रादि,
व्याकरण	तिङन्तान्वयोक्ति
अलंकार	अलंकारचूडा मणि टीका काव्य प्रकाश टीका
छन्द	छन्दश्चूडामणि
प्रकीर्णक	शठप्रकरण

मेघविजय उपाध्याय	व्याकरण	चन्द्रप्रभा (हैमकौमुदी) व्याकरण १७५७
	काव्य	देवानन्दाभ्युदयमहाकाव्य १७३७
		माघकाव्य पूर्ति (अखीर के सब अन्तिम पदों को लेकर)
		मेघदूत समस्या लेख (पादपूर्ति)
		दिग्विजय महाकाव्य
		शान्तिनाथ चरित्र महाकाव्य (नैषध के पदों को लेकर)
		सप्तसंधान महाकाव्य सटीक १७६०
	कथा-चरित्र	विजयदेव माहात्म्य
		लघुत्रिषष्ठिचरित्र (५००० श्लोक
		पंचमी कथा
		पंचाख्यान–पंचतंत्र
	स्तुति स्तोत्र	पंचतीर्थ स्तुति (एक के पांच अर्थ- पांच तीर्थों के वर्णन)
		अर्हद्गीता (३६.अध्याय)
		भक्तामर पर टीका
	ज्योतिष	उदय दीपिका
		वर्ष प्रबोध–मेघ महोदय
		रमल शास्त्र, हस्त संजीवन सटीक
	मंत्र-तंत्र	वीसायंत्र विधि
	अध्यात्म	मातृका प्रसाद, ब्रह्मबोध
		युक्तिप्रबोध (मूलप्राकृत) सटीक
	खंडन मंडन	धर्ममंजुषा (स्थानकवासी खंडन)
हितरुचि	चरित्र	नल चरित्र
हर्ष नन्दन सुमति कल्लोल	आगमिक	स्थानांग वृत्ति (अभयदेव) पर विवरण

शान्तिसागर गणि	आगमिक	कल्पकौमुदी १७०८
दानचन्द्र	कथा	मौन एकादशी कथा
जिन विजय	स्तोत्र	कल्याणमन्दिर टीका
कल्याणसागर सूरि १६७०-१७१८	व्याकरण	मिश्रलिंग कोश (लिंग निर्णय)
विनयसागर	व्याकरण	भोज व्याकरण (काव्य में) वृद्धचिंतामणि (सारस्वत सूत्र काव्य में)
महिमोदय	ज्योतिष्	ज्योतिष् रत्नाकर १७२२
यशस्वत् सागर	दार्शनिक	जैन सप्तपदार्थी १७५७, प्रमाणवादार्थ १७५१ वादार्थ निरूपण, स्याद्वाद मुक्तावली
	प्रकीर्णक	विचार षड्त्रिंशिका पर अवचूरि १७२१ भावसप्ततिका १७४०, स्तवन रत्न
	ज्योतिष	ग्रहलाघव (गणेशकृत) वार्तिक १७६० यशोराजिराजपद्धति (जन्मकुंडली विषयक
हरित रुचि	वैद्यक	वैद्यवल्लभ १७२६
मान विजय		धर्मसंग्रह
उदय चन्द्र		पाण्डित्य दर्पण
मतिवर्धन		गौतम पृच्छा पर सुगम वृत्ति १७३८.
लक्ष्मी वल्लभ	आगमिक	उत्तराध्ययन वृत्ति कल्पसूत्र पर कल्पद्रुमकलिका
	उपदेश	धर्मोपदेश पर वृत्ति

नय विमल	आगमिक	प्रश्न व्याकरण टीका
	चरित्र	श्रीपाल चरित्र
मान विजय		धर्म परीक्षा
लब्धिचन्द्र गणि	ज्योतिष्	जन्मपत्री पद्धति १७५१
रंग विजय	इतिहास	गुर्जर देश भूपावलि १७६५
दान विजय	आगमिक	कल्पसूत्र-दानदीपिका टीका १७५०
	व्याकरण	शब्दभूषण पद्यबद्ध १७७०
	उपदेश	उपदेश माला पर वृत्ति १७८१
हंसरत्न	स्तोत्र	शत्रुंजय माहात्म्योल्लेख (धनेश्वर-कृत शत्रुंजय माहात्म्य से)
भावप्रभसूरि	दार्शनिक	नयोपदेश (यशोवि.) टीका
	स्तोत्र	भक्तामर समस्या पूर्ति सटीक १७११
		प्रतिमा शतक
विमल सूरि	उपदेश	उपदेश शतक १७९३
तेजसिंह		सिद्धांत शतक १७९८, दृष्टान्त शतक १७९८
भोजसागर	आगमिक	द्रव्यानुयोग तर्कणा सटीक

उन्नीसवीं शताब्दी

रूपचन्द्र	काव्य	गौतमीय महाकाव्य १८०७
	प्रकीर्णक	गुणमाला प्रकरण
मयाचन्द्र	दार्शनिक	ज्ञान क्रियावाद १८०४
फतेन्द्रसागर		होलीराज १८२२
जिनलाभ सूरि	उपदेश	आत्म प्रबोध
विजय लक्ष्मी सूरि	"	उपदेश प्रासाद
पद्मविजय गणि	चरित्र	जयानन्द चरित्र (गद्य)

	आगमिक	जीव विचार वृत्ति १८५०, परम समय सार विचार संग्रह
	दार्शनिक	तर्कसंग्रह फक्किका १८५४
	काव्य	गौतमीय काव्यमाला
क्षमाकल्याण उपाध्याय	कथा चरित्र	चातुर्मासिक होलिका पर्व कथा १८३५
		यशोधर चरित्र, अक्षय तृतीया कथा
		मेरुत्रयोदशी व्याख्या, श्रीपाल चरित्र व्याख्या
		समरादित्य चरित्र
	प्रकीर्णक	खरतर पट्टावलि १८३०
		सूक्त मुक्तावलि, प्रश्नोत्तर सार्ध शतक
		पर्युषणाष्टाह्निका, विचारशत वीजक
		सूक्त रत्नावलि वृत्ति
जिनकीर्ति		श्रीपाल चरित्र संस्कृत से कृत १८६८
उमेदचन्द्र		प्रश्नोत्तर शतक
जिमहेम सूरि शिष्य	आगमिक	सिद्धान्त रत्नावलि
कस्तूरचन्द्र	आगमिक	ज्ञातासूत्र वृत्ति १८९९

वीसवीं शताब्दी

ऋद्धिसागर	दार्शनिक	निर्णय प्रभाकर
विजय राजेन्द्र सूरि	आगमिक	अभिधान राजेन्द्र कोश १९४६-८६
न्याय विजय (न्याय-तीर्थ, न्याय विशारद)	दार्शनिक	प्रमाण परिभाषा सटीक १९६९ (न्यायालंकार वृत्ति)

	न्यायतीर्थ प्रकरण
	न्यायकुसुमाञ्जलि (काव्य में) १९७०
	अनेकान्त विभूतिः
अध्यात्म	अध्यात्मतत्त्वालोक १९७५
	अञ्भततत्तालोओ १९९४
प्रकीर्णक	महात्म विभूतिः, जीवनामृतम्, जीवनहितम्, जीवनभूमिः, वीरविभूतिः, दीनक्रन्दनम्, जीवनपाठोपनिषद्, भक्तगीतम् विजय धर्मसूरि श्लोकाञ्जलिः गांधी प्रशस्तिः महेन्द्र स्वर्गारोहः, दीक्षाद्वात्रिंशिका, विद्यार्थिजीवनरश्मिः, आत्महितोपदेश आश्वासनम् ।

'SANMATI' PUBLICATIONS

No.	Title	Price
	Lord Mahavira by Dr. Bool Chand, M.A., Ph.D.	Rs. 4/8/
	गुजरात का जैन धर्म—मुनि श्री जिनविजय जी	बारह आने
3.	विश्व-समस्या और व्रत-विचार—डॉ॰ बेनीप्रसाद	चार आने
4.	Constitution	4 Ans.
5.	अहिंसा की साधना —श्री काका कालेलकर	चार आने
6.	परिचयपत्र और वार्षिक कार्यविवरण	चार आने
7.	Jainism in Kalingadesa—Dr. Bool Chand	4 Ans.
8.	भगवान् महावीर—श्रीदलसुखभाई मालवणिया	चार आने
9.	Mantra Shastra and Jainism—Dr. A. S. Altekar	4 Ans.
10.	जैन-संस्कृति का हृदय—पं॰ श्री सुखलालजी संघवी	चार आने
11.	भ॰ महावीरका जीवन—पं॰ श्री सुखलालजी संघवी	" "
12.	जैन तत्त्वज्ञान, जैनधर्म और नीतिवाद ले॰—पं॰ श्री सुखलालजी तथा डॉ॰ राजबलि पाण्डेय	" "
13.	आगमयुग का अनेकान्तवाद—श्री दलसुखभाई मालवणिया	आठ आने
14--15.	निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय—श्री सुखलालजी संघवी	एक रुपया
16.	वस्तुपाल का विद्यामण्डल—प्रो॰ भोगीलाल सांडेसरा	आठ आने
17.	जैन आगम—श्री दलसुखभाई मालवणिया	दस आने
18.	कार्यप्रवृत्ति और कार्यदिशा	आठ आने
19.	गांधीजी और धर्म ले॰ पं॰ श्री सुखलालजी और दलसुख मालवणिया	दस आने
20.	अनेकान्तवाद—पं॰ श्री सुखलाल जी संघवी	बारह आने
21.	जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन पं॰ दलसुखभाई मालवणिया	दस आने
22.	राजर्षि कुमारपाल—मुनि श्री जिनविजयजी	आठ आने
23.	जैनधर्म का प्राण—श्री सुखलालजी संघवी	छः आने
24.	हिन्दू, जैन और हरिजन मंदिर प्रवेश ले॰ श्री पृथ्वीराज जैन M.A.	सात आने
25.	Pacifism & Jainism—Pt Sukhlalji	8 Ans.
26.	छठे वर्ष का कार्य-विवरण	दो आना
27.	जीवन में स्याद्वाद—श्री चन्द्रशंकर शुक्ल	बारह आना

The Secretary,

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY

BENARES HINDU UNIVERSITY.

'SANMATI' PUBLICATIONS

1. **World Problems and Jain Ethics**
   by Dr. Beni Prasad — 6 Ans
2. **Lord Mahavira**
   by Dr. Bool Chand, M.A., Ph D. — Rs. 4/8
3. विश्व-समस्या और व्रतविचार डॉ० बेनीप्रसाद — चार आने
4. **Constitution** — 4 Ans
5. अहिंसा की साधना —श्री काका कालेलकर — चार आने
6. परिचयपत्र और वार्षिक कार्यविवरण — चार आने
7. **Jainism in Kalingadesa Dr. Bool Chand** — 4 Ans
8. भगवान् महावीर— श्री दलसुखभाई मालवणिया — चार आने
9. **Mantra Shastra and Jainism–Dr. A. S. Altekar** 4 Ans
10. जैन-संस्कृति का हृदय—पं० श्री सुखलालजी संघवी — चार आने
11. भ० महावीरका जीवन—पं० श्री सुखलालजी संघवी — " "
12. जैन तत्त्वज्ञान, जैनधर्म और नीतिवाद — " "
    ले०–पं० श्री सुखलालजी तथा डॉ० राजबलि पाण्डेय
13. आगमयुग का अनेकान्तवाद–श्री दलसुखभाई मालवणिया — आठ आने
14–15. निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय—श्री सुखलालजी संघवी — एक रुपया
16. वस्तुपाल का विद्यामण्डल—प्रो० भोगीलाल सांडेसरा — आठ आने
17. जैन आगम—श्री दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य दस आने
18. कार्यप्रवृत्ति और कार्यदिशा — आठ आने
19. गांधीजी और धर्म
    ले० पं० श्री सुखलालजी और दलसुख मालवणिया — दस आने
20. अनेकान्तवाद—पं० श्री सुखलालजी संघवी — बारह आने
21. जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन
    पं० दलसुखभाई मालवणिया — दस आने
22. राजर्षि कुमारपाल-मुनि श्री जिनविजयजी — आठ आने
23. जैनधर्म का प्राण- श्री सुखलालजी संघवी — छः आने

जैन संस्कृति संशोधन मंडल

बनारस हिन्दू युनिवर्सीटीः बनारस

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी, बनारस.

सन्मति प्रकाशन नं० ३

गुजरात का जैनधर्म

लेखक

मुनि श्री जिनविजयजी

आचार्य, भारतीय विद्या भवन, बंबई

[न]वम्बर १९४९

निवेदन

'राजर्षि कुमारपाल' के बाद आचार्य मुनि श्री जिनविजयजी की 'गुजरात का जैनधर्म' नामक यह दूसरी पुस्तिका है। गुजरात के इतिहास के विषय में मुनि श्री जिनविजयजी लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। बडौदा सरकार के आमन्त्रण से इ० स० १९३८ में उन्होंने जो व्याख्यान गुजराती भाषा में दिया था और जिसका उद्धरण 'प्रबुद्ध जैन' के जून से अगस्त १९४७ तक के अंकों में हुआ है उसीका अनुवाद करके छापा है। छापने की अनुज्ञा देने के लिये श्रीमान् मुनि जिनविजय जी के हम आभारी हैं।

गुजरात के सांस्कृतिक विकास में ही नहीं किन्तु सर्व प्रकार के विकास में जैनधर्म ने जो देन दी है उसका संक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन प्रस्तुत व्याख्यान में हुआ है। इस विषय के निरूपण में जिस माध्यस्थ्य और शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि की आवश्यकता होती है वह आचार्य श्री जिनविजयजी में है। अत एव गुजरात में जैन प्रभाव का वर्णन एक जैन विद्वान् के द्वारा होने पर भी अतिशयोक्ति की संभावना इस विवेचन में नहीं है।

पाठक से प्रार्थना है कि वह इस भव्य भूतकाल के यशोगान में ही निमग्न न हो जाय किन्तु आधुनिक भारत के सर्वतोमुखी नव निर्माण में भी अपना हिस्सा अदा करे। आज भारत की सबसे बड़ी समस्या आर्थिक संकट है। और उसे सुलझाने में जैनधर्म संमत जैन श्रावक का परिग्रहपरिमाण व्रत पर्याप्त है। आज का व्यापारी जैन समाज यदि इस व्रत का देश की परिस्थिति को ध्यान में रखकर पालन करने लग जाय तो देश का आर्थिक संकट बहुत अंशों में मिट सकता है।

निवेदक
दलसुख मालवणिया
मन्त्री

गुजरात का जैनधर्म ।

व्याख्यान का विषय

सज्जनो !

आज के व्याख्यान का विषय मैंने 'गुजरात का जैनधर्म' यह रखा है। जैनधर्म के आधुनिक स्वरूप से तो आप सभी परिचित होंगे ही अतएव ऐसा विचार होना स्वाभाविक है कि जैनधर्म के विषय में एक खास व्याख्यान देने की क्या आवश्यकता है। किन्तु यहाँ मेरा उद्देश्य जैनधर्म के वर्तमान स्वरूप के विषय में खास कुछ कहने का नहीं है। यहाँ तो ऐतिहासिक दृष्टि से उसके भूतकालीन व्यक्तित्व के विषय में कुछ मीमांसा करना अभीष्ट है। गुजरात के सांस्कृतिक जीवन में जैनधर्म ने क्या और कितना अर्पण किया इसके विषय में स्वयं जैनों को ही ठीक पता नहीं है तो जैनेतरों को कहाँ से होगा ?

परिस्थिति का प्रभाव

हमें अपने धर्म, समाज और संस्कृति के इतिहास का यथार्थ ज्ञान नहीं होता इसीसे हम लोग प्रजाकीय जीवन के विषय में अनेक प्रकार की भ्रमणाओं में फँस जाते हैं। धर्म और समाज के जिस वातावरण में हम जीते हैं उसी को हम शुद्ध और सनातन धर्म मान लेते हैं। देश काल की परिस्थिति के बल से धर्म और समाज की नीतिरीति में सतत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते आए हैं और होते ही रहते हैं—इस विचार को हृदयंगम करने में प्रजा की बुद्धि तत्पर नहीं होती और इसीलिए हम अपने प्रजाकीय जीवन के यथार्थ सुधार और उन्नति के उपायों को भी हमेशा शंका और भय की दृष्टि से देखते रहते हैं और इस प्रकार धार्मिक और सामाजिक अधोगति के शिकार बन जाते हैं। धर्म या समाज के किसी भी नियम या सिद्धान्त का उद्भव-विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति के कारण ही होता है। परिस्थिति के परिवर्तन के साथ ही सिद्धान्त और नियम भी बदल ही जाते हैं। और इस प्रकार परिवर्तनशील नियमों और सिद्धान्तों के कारण धर्म या समाज का नाश नहीं किन्तु विकास ही होता है। यह तथ्य तभी बुद्धिग्राह्य हो सकता है जब हमें ऐतिहासिक परिस्थितिका यथार्थ ज्ञान हो। ऐसे ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव में प्रत्येक प्रजा अपने धर्म के सिद्धान्तों और सामाजिक नियमो को ईश्वर प्रेरित किसी दिव्य पुरुष

के द्वारा वे स्थापित हैं—ऐसा मानने लगती है और उन में किसी प्रकार के परिवर्तन को अक्षम्य और अनिष्ट मानती हुई जो रोगनाश के लिए रामबाण औषध होती है उसी को रोग की पोषक मान कर उससे दूर रहने का प्रयत्न करती है और फलतः अपने ही नाश को आमन्त्रण देती है। अपनी जो धार्मिक और सामाजिक अवनति हुई है और उसी के फलस्वरूप हम जिस प्रकार कितनी ही शताब्दियों से पराधीनता और पामरता के शिकार हो रहे हैं उसका कारण अन्य कुछ भी नहीं है किन्तु हमारी प्रजा की वह अज्ञानजन्य रूढ़ अन्ध-श्रद्धा ही है। धर्म का कोई सिद्धान्त या समाज का कोई नियम त्रिकालाबाधित हो ही नहीं सकता। उन सिद्धान्तों व नियमों को बनाने वाला कोई ईश्वर या मानवेतर शक्ति नहीं थी किन्तु हमारे जैसे ही शरीर और संस्कार को धारण करने वाले मनुष्य ही थे। देश काल की परिस्थिति के अनुसार अपने जनसमूह के कल्याणार्थ तत्प्रकार के सिद्धान्तों और नियमों को स्थापित करने की आवश्यकता उन्हें प्रतीत हुई और वैसा ही किया। जब तक वैसी परिस्थिति बनी रहे और वे नियम तथा सिद्धान्त प्रजा को लाभकारक हों तब तक उनका पालन आवश्यक होता है। किन्तु यदि परिस्थिति ने पलटा खाया हो और वे नियम और सिद्धान्त लाभ के स्थान में हानिकारक सिद्ध हो रहे हों तो हमें उनमें परिवर्तन करना ही चाहिए और नई परिस्थिति के अनुकूल नये नियम या सिद्धान्त का निर्माण कर लेना चाहिए। परिवर्तन तो प्रकृति का अबाधित नियम है। वस्तुमात्र में रूपान्तर कर देना, यह तो काल का मुख्य स्वभाव है। समग्र चेतन अचेतन सृष्टि में प्रकृति का उक्त नियम व काल का वह स्वभाव अव्याहतरूप से प्रवर्तमान है। जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश भी अवश्यंभावी है। अखण्ड ब्रह्माण्ड उस महा नियम के अधीन है। फिर अपना यह क्षुद्र मानव समाज उसमें अपवादभूत कैसे हो सकता है? प्रकृति के उक्त नियम से विरुद्ध हम कैसे जा सकते हैं? और यदि अपनी अज्ञानता के कारण हम ऐसा करें तब भी प्रकृति को यह सह्य कैसे होगा? अग्नि का स्वभाव दाह उत्पन्न करने का है। उसके इस स्वभाव की उपेक्षा करके यदि हम चलें तो क्या अग्नि अपनी शक्ति का परिचय हमें न देगी? अज्ञान बालक को या श्रेष्ठ विद्वान् वृद्ध को अग्नि अपने स्वभाव का परिचय समान रूप से देगी। इसी प्रकार प्रकृति भी अपने नियम की अवहेलना करने वाले धर्म या समाज को अपने स्वभाव का परिचय देती है। उसके नियमों को पहचान कर तदनुकूल नियम और सिद्धान्तों का सर्जन यदि हम करें तब तो हमारे विकास को प्रकृति पनपने देगी अन्यथा प्रकृति हमारा नाश ही कर देगी।

धर्म की विडम्बना

धर्म और समाज की आधुनिक विचारहीन परिस्थिति के कारण हमारी प्रजा की नई पीढ़ी अत्यन्त व्याकुल हो उठी है। उस पीढी का प्रतिभाशाली और प्रगतिगामी वर्ग विद्युद्वेग से परिवर्तनशील जगत् की परिस्थिति के साथ हमारी प्रजाकीय गति-स्थिति का कोई मेल न देख कर अत्यन्त खिन्न हो रहा है और उसे इस अवस्था का मूल कारण हमारा वर्तमान धार्मिक वातावरण ही नजर आता है। और इसी लिए वह धर्म के नाम से ही घबराता है।

उस वर्ग को ऐसा लगता है कि हमारे सभी प्रकार के सामाजिक अनिष्टों के मूल में भी धर्म है। धर्म ही ने मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँचनीचभाव का भयानक भेदभाव स्थापित किया है। धर्म ही ने हमें किसी खास जाति के मानव समूह के प्रति अस्पृश्यता की अधम बुद्धि की सीख दी है। धर्म ही ने मानव समूहों में शत्रुभाव उत्पन्न व पुष्ट करने की भावना को जाग्रत किया है। धर्म ही ने स्त्री स्वातन्त्र्य का विरोध करके बाल लग्न, वैधव्यबन्धन आदि अनिष्ट-कर रूढ़िओं द्वारा स्त्री जाति की संपूर्ण उन्नति का अवरोध किया है। धर्म की संकुचित भावना के कारण हिन्दू जाति सैंकड़ों और हजारों उपजातिओं में बँट गई हैं। यही कारण है कि हिन्दू जाति दुनिया की दृष्टि में सामर्थ्य और शक्ति से शून्य संगठनहीन एक मानव समूह के रूप में प्रसिद्ध हो गई है। धर्म की संकीर्ण वृत्ति के कारण ही हम जाति और परिवारों में भी पारस्परिक एकरूपता उत्पन्न नहीं कर सकते, संगठन नहीं कर सकते, तो समस्त महाप्रजा की तो बात ही क्या करना ?

ये और ऐसे नाना प्रकार के विचार अद्यतन विचारशील और उत्कर्षाभिमुख नवयुगीन प्रजा को धर्म के विरोध में उत्थित होने की प्रेरणा दे रहे हैं और उससे धार्मिक क्षेत्र में जो कुछ सारभूत और लाभकर्ता तत्त्व अन्तर्हित हैं उनका भी, शुष्क के साथ हरा भी जलता है इस न्याय से, उच्छेद करने के लिए आज का युवकवर्ग उत्सुक हो रहा है। दूसरी ओर इसके प्रत्याघात रूप में धर्म के रूढ और मूढ उपासक, धर्म का जो सारहीन, सिर्फ बाह्य आवरण रूप भाग है उसी को धर्म की आत्मा मान कर उसी की रक्षा में कृतकृत्यता का अनुभव कर रहे हैं। ये लोग जो त्याज्य है उसी की रक्षा में और जो रक्षणीय है उसकी उपेक्षा में ही धर्म की रक्षा की इतिश्री मान रहे हैं।

धर्म की यह विडम्बना, धर्म के यथार्थ तत्त्व के विषय में जो व्यापक अज्ञान प्रजा में शताब्दियों से बद्धमूल है, उसी को आभारी है। जिस धर्म को प्रजाकीय

प्रगति का विरोधी माना जाता है वह वस्तुतः तात्त्विक शुद्ध धर्म नहीं है किन्तु उसका विकृत रूप मात्र है। प्रत्याघाती लोग जिस धर्म का आचरण करके धार्मिक होने का दम भरते हैं वह धर्म का कोई सनातन तत्त्व नहीं है किन्तु प्रसंगानुसार केले के छिलके के समान फेंक देने के योग्य धर्म का एक निःसार अंग है। प्रकृति में विकृति को उत्पन्न करना यह कालधर्म है। किन्तु उस विकृति को दूर कर पुनः प्रकृति को शुद्ध करना मनुष्य का पुरुषार्थ धर्म है। इस न्याय से धर्म के स्वरूप में कालकृत विकार भाव उत्पन्न होता ही है और उस विकार का नाश भी विचारशील पुरुषार्थियों के द्वारा होता ही है। भगवद्गीता के—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"

इस सुप्रसिद्ध श्लोक में भगवान् श्री कृष्ण ने जो भाव व्यक्त किया है वह इसी नियम को लक्ष्य करके ही है।

धर्म की शुद्ध प्रकृति क्या है और विकृति क्या है, इस बात की चर्चा करने का यहाँ उद्देश्य ही नहीं है और अवकाश भी नहीं है। हमें इसका यथार्थ ज्ञान, संसार के धार्मिक इतिहास का निरपेक्ष अवलोकन करने से हो सकता है, यही कहने का यहाँ उद्देश्य है।

जैन धर्म की विडम्बना

जैसी स्थिति हमारे देश के सभी धर्म और समाजों की है वैसी ही जैन धर्म और समाज की भी है। जैन भी आज अपने धर्म के सिद्धान्त और समाज के नियमों में देश-काल की परिस्थिति के अनुकूल कुछ परिवर्तन हो तो उन्हें शंका और भय की दृष्टि से देखते हैं और रूढिचुस्त सत्ताप्रिय वर्ग उन परिवर्तनों का विरोध करता है। पुराना तो सभी कुछ सच्चा और अच्छा, ऐसी उसकी मान्यता है। प्राचीन ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है वह सब स्वयं भगवान् महावीर ने ही कहा है और उसमें कुछ भी परिवर्तन या संशोधन को अवकाश नहीं है। जैसे प्रत्येक धर्म में वैसे जैन धर्म में भी अनेक संप्रदाय उत्पन्न हुए हैं और वे एक दूसरे को जैनाभास मानते और कहते हैं; और सिर्फ अपने ही को भ० महावीर के सच्चे और शुद्ध अनुयायी समझते हैं। यह सब ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव का फल है।

जैनों के विषय में अन्य धर्मानुयायी वर्ग में भी भिन्न भिन्न प्रकार की नाना मिथ्या कल्पनाएँ और भ्रमणाएँ विद्यमान हैं। कोई उसे नास्तिक मत मानते हैं,

कोई बोद्धधर्म की शाखा समझते हैं। और कोई तो उसे विदेशी कहने की भी धृष्टता करते हैं। विदेशी लेखकों का अन्धानुकरण करने वाले विद्वान् इस्लाम की तरह जैन धर्म को भी एक बिलकुल भिन्न ही आचार-विचार वाला और इसीसे हिन्दू प्रजा या जाति से बिलकुल स्वतन्त्र भावना वाला धर्म है यह मान कर के उसकी चर्चा करते हैं। कुछ को तो जैन धर्म के नाम से ही चिढ़ है। वे तो यही कहते हैं कि जैनों की अहिंसा की भावना ने ही भारत में कायरता उत्पन्न की है और इसी कारण से आर्यप्रजा पौरुष को गवाँ कर विधर्मी शत्रुओं से लोहा न ले सकने के कारण पराधीन हुई है। जैन धर्म के विषय में ऐसी जो नाना प्रकार की भ्रमणाएँ फैल रही हैं उसका कारण भी ऐतिहासिक ज्ञान का अभाव ही है।

इन सब विषयों की चर्चा करना आवश्यक होने पर भी प्रस्तुत व्याख्यान में अवकाश नहीं है इससे इतना सूचन मात्र करके मैं गुजरात के जैन धर्म के विषय में कुछ सिंहावलोकन करने का प्रयत्न करता हूँ।

गुजरात और जैन धर्म का सम्बन्ध—

गुजरात आज जैन धर्म का विशिष्ट केन्द्रभूत स्थान है। जैनों की संख्या और शक्ति जितनी गुजरात में दीखती है उतनी हिन्दुस्तान के किसी अन्य प्रदेश में नहीं दीखती। जैनों की धार्मिक और सामाजिक ऐसी सब प्रवृत्तिओं में जो जाग्रति गुजरात में देखी जाती है वह अन्य किसी प्रदेश में नहीं है। जैन दृष्टि से गुजरात को ऐसा प्राधान्य वर्तमान काल में ही प्राप्त हुआ है ऐसा नहीं है। उसका इतिहास तो गुजरात के प्रजाकीय विकास के इतिहास जितना ही प्राचीन है। गुजरात के प्राचीन सांस्कृतिक विकास का और जैन धर्म के विकास का परस्पर महत्त्वपूर्ण गाढ संबन्ध है। गुजरात की जैन धर्म के विकास में महत्त्वपूर्ण देन है। और इसी प्रकार जैन धर्म ने भी गुजरात के विकास में महत्त्वपूर्ण देन दी है। गुजरात ने यदि जैन धर्म को रक्षण और पोषण न दिया होता तो जैन धर्म की अवस्था आज से दूसरी ही होती। और जैन धर्म ने भी यदि गुजरात के संस्कार विकास में विशिष्ट प्रयत्न न किया होता तो गुजराती संस्कृति आज से दूसरे ही प्रकार की होती।

जैन धर्म ने गुजरात को जिस प्रकार के अहिंसा, संयम और तप के आदर्श संस्कारों से संस्कृत किया है वैसे संस्कार भारत के दूसरे प्रदेशों को नहीं मिले। यही कारण है जिससे गुर्जर प्रजा में जैसी संस्कार समृद्धि की एक विशिष्ट प्रभा देखी जाती है वैसी अन्यत्र नहीं है। मद्य, मांस, मृगया, प्राणिहिंसा और व्यभि-

चार जैसे दुर्गुणों से गुर्जर प्रजा आज अधिकांश में जो मुक्त देखी जाती है और उसमें सुसंस्कारिता की जो एक विशिष्ट छाप देखी जाती है उसका श्रेय अधिकांश में जैन धर्म की प्राचीन विरासत को ही मिलना चाहिए।

जैनों ने गुजरात के वाणिज्य व्यापार, राजशासन, कलाकौशल, ज्ञानसंवर्धन और सदाचार प्रचार—इन सब प्रजाकीय संस्कृति के अंगों में व्यापक रूप से महत्त्व-पूर्ण योगदान किया है।

गुजराती 'वणिक' शक्ति और जैनधर्म

गुजरात की वाणिज्य शक्ति और व्यापारिक कुशलता प्राचीन काल से समस्त भारतवर्ष में सुप्रसिद्ध है। गुजरात के उस व्यापारी वर्गका अधिकांश जैनधर्मी है। गुजरात के गाँव-गाँव में जैन वणिक अपनी सामाजिक और व्यापारिक प्रतिष्ठा सुदूर प्राचीन काल से आदर्श रीति से जमाए हुए हैं। गुजरात का जैन वणिक यह 'राष्ट्र का महाजन' है; और वस्तुतः भूतकाल में उसने अपना वह पद अनेक प्रकार से सार्थक सिद्ध किया है। अणहिल पुर की स्थापना से लेकर आज तक के गुजरात के सामाजिक-राजकीय इतिहास का यदि हम अवलोकन करें तो पता लगेगा कि इस बारह शताब्दियों जितने समय में गुजरात की वणिक प्रजा में से अनेक राजनीतिज्ञ, मंत्री, शासनकर्त्ता, सेनापति, योद्धा, व्यापारी, दानेश्वरी, विद्वान्, कलाप्रेमी, त्यागी और प्रजाप्रेमी उत्पन्न हुए हैं। उनकी नामावली अंगुलि के सहारे गिनी नहीं जा सकती। उन 'महाजनों' की संख्या सैंकड़ों की नहीं किन्तु हजारों की है।

इस बारह शताब्दी के महायुग में गुजरात की सार्वभौम सत्ताधारी ऐसी दो राजधानियाँ हुई हैं—प्रथम अणहिल पुर-पाटण और दूसरा अहमदाबाद। अणहिल पुर का प्रथम नगरसेठ विमल पोरवाड ज्ञातिका जैन वणिक था। और अहमदा-बाद का विद्यमान नगर सेठ भी ओसवाल जाति का जैन वणिक ही है। गुजरात के इन दो पाटनगरों के इन आद्यन्त सेठों के बीच अन्य सैंकडों सेठ हो गये जो प्रायः जैन ही थे।

काल के महा प्रभाव से टक्कर लेकर गुजरात के चक्रवर्ती हिन्दू सम्राटों और मुसलमान बादशाहों के संतान अपनी नाममात्र की भी गद्दी संभाल नहीं सके हैं जब कि ये वणिक पुत्र आज तक अपनी गद्दी अखण्डरूप से सुरक्षित रख सके हैं। और यही उनकी अद्भुत व्यवहार कुशलता की निशानी है।

अणहिल पुर के स्वजातीय सम्राट् गए और दिल्ली के विधर्मी सुलतान आए। ये सुलतान अस्त हुए और गुजरात के स्वतन्त्र बादशाहों का उदय हुआ। ये बादशाह विलीन हुए और मुगल सम्राट् सत्ताधीश बने। मुगल निस्तेज हुए और मराठा चमकने लगे। मराठा निर्वीर्य हुए और अन्त में अंग्रेज इस भूमि के भाग्य-विधाता बने। गुजरात की भूमि में इस प्रकार इतनी राजसत्ताएँ खड़ी हुईं और धूल में मिल गईं किन्तु गुजरात के व्यापार क्षेत्र में और प्रजामण्डल में उन्हीं गुजरात के वैश्य संतानों की अबाधित सत्ता अखण्ड रूप से चालू रही है। और यही कारण है कि अब तक गुजरात की धन समृद्धि योग्यरूप से सुरक्षित है। अतएव इस सुरक्षा कार्य में जैनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है यह मानना पड़ेगा।

गुजरात के शासन कार्य में जैनों की देन

गुजरात के व्यापार क्षेत्र की तरह जैनों ने गुजरात के राजशासन कार्य में भी महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। इसका साक्षी स्पष्टरूप से गुजरात का प्राचीन इतिहास है। मन्त्री जाम्ब, सेनानायक नेढ, मन्त्रीश्वर दण्डनायक विमल, महामात्य मुंजाल, सांतू, आशुक, उदयन, आम्बड, बाहड, सज्जन, सोम, धवल, पृथ्वीपाल, वस्तुपाल, तेजपाल, पेथड और समराशाह आदि अनेक जैन वणिक राजशासन करने वाले हो गए हैं जिन्हों ने गुजरात के राजतन्त्र को सुसङ्गठित, सुप्रतिष्ठित और सुव्यवस्थित करने में अद्भुत बुद्धिकौशल और रणशौर्य प्रदर्शित किया है। जैन वणिकों ने अपने राजनीतिप्रवीण प्रतिभा कौशल के द्वारा अणहिल पुर की एक छोटी सी जागीरदारी को महाराज्य की प्रतिष्ठा समर्पित की और गुर्जर देश, जिसकी भारत में कुछ भी विशिष्ट ख्याति न थी, उसे एक बलवान् और सुविशाल राष्ट्र होने का अक्षय गौरव दिलाया है। लाट, आनर्त, सौराष्ट्र, अर्बुद और कच्छ इन सभी इतिहास प्रसिद्ध और जग विख्यात समृद्धि पूर्ण प्राचीन प्रदेशों को अणहिल पुर के एकछत्र के नीचे सुसंबद्ध करने में तथा एक संस्कृति और एक भाषा द्वारा उन सब प्रजाओं को आपसी प्रान्त भेद भूल करके एक गुर्जर महा प्रजा के रूप में सुसंगठित करने में जैन व्यापारी और शासनकर्त्ताओं ने जो भाग लिया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इस में शंका को स्थान नहीं है।

वैश्य कौम और जैन धर्म

जैन धर्म के पालन करने वालों में अधिकांश वैश्यों का है। जैनधर्म की अहिंसा की भावना जितनी वैश्यों के लिये अनुकूल है उतनी दूसरे वर्गों के लिए नहीं यह सूक्ष्म विचार करने पर स्पष्ट होता है। जैनधर्म की प्रकृतिका जितना

सुमेल वैश्यों की प्रकृति के साथ होता है उतना अन्य वर्णों की प्रकृति के साथ नहीं होता है। वैश्यों के जीवन-व्यवसाय के साथ शान्ति का गहरा संबंध है। शान्तिमय परिस्थिति में ही व्यापार की वृद्धि और स्थिरता है। अशान्त परिस्थिति व्यापारी की प्रकृति और प्रवृत्ति के लिए हमेशा प्रतिकूल होती है। जैनधर्म अत्यन्त शान्तिप्रिय धर्म है। हिंसा और विद्वेष उत्पन्न करने वाले तत्त्व जैनधर्म की प्रकृति के सर्वथा विरोधी तत्त्व हैं। इससे शान्तिप्रिय वर्ग के लिए जैनधर्म के तत्त्व अधिक सुग्राह्य और समादरणीय बन जाते हैं। युद्ध विजिगीषा, लूट इन तत्त्वों के उपासकों को जैनधर्म के तत्त्व प्रिय नहीं लगते।

जैन जातिओं के इतिहास को देखने से पता चलता है कि कुछ जैनाचार्यों के विशिष्ट प्रभाव से आकर्षित होकर सैकड़ों की संख्या में क्षत्रिय और किसानों ने जैन धर्म को स्वीकार किया था। किन्तु धर्मान्तर के साथ ही उन लोगों का व्यवसायान्तर भी करके उन्हें क्षात्रधर्म या कृषिकर्म का त्याग करके वैश्यवर्ण का व्यवसाय लेना पड़ा था। इस प्रकार व्यवसायान्तर के संस्कार बल से ही वे स्थैर्यपूर्वक जैन धर्म के पालन में समर्थ हुए हैं। इससे यदि मैं यह कहूँ कि जैन धर्म की प्रकृति के लिये बनिये अनुकूल हैं और बनियों को जैन धर्म, तो मेरा यह कथन सिर्फ हास्य के लिए ही नहीं है किन्तु पूर्णरूप से वस्तुसूचक भी है।

यद्यपि यह कहने में कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है कि पूर्व काल में गुजरात के सभी वैश्य जैनधर्म का पालन करते थे। किन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वल्लभाचार्य के संप्रदाय के प्रचार से पूर्व गुजरात में वैश्यों का बहुत बड़ा हिस्सा जैनधर्म का पालन करता था। यों तो धर्म के विषय में गुजरात की प्रजा में अति प्राचीन काल से उदार भावना का ही प्राबल्य रहा है। यही कारण है कि जैन, शैव और वैष्णव धर्मों के बीच गुजरात में कभी भी ऐसी कटुता उत्पन्न नहीं हुई जिससे परस्पर धर्मों में तीव्र विरोध की भावना जागृत हो सके। गुजरात के वैश्य कुटुम्बों में जैन, शैव और वैष्णवमत समान रूप से आदृत हुए हैं, और आज भी यह आदर भाव कायम है। गुजराती प्रजा का यह एक विशिष्ट संस्कार है जिस के निर्माण में जैनधर्म की महत्त्वपूर्ण देन है।

गुजरात का शिल्प-स्थापत्य

इस प्रकार हमने देखा कि गुजरात में जैनधर्मी मुख्यतः वैश्यवर्ग है। उस वैश्यवर्ग का प्रधान जीवन व्यवसाय वाणिज्य-व्यापार है। उस व्यवसाय के बल पर जैनों ने गुजरात में लक्ष्मी का ढेर लगा दिया है। व्यापार के अलावा जैसा

पहले बताया गया है जैनों के एक वर्ग ने शासन कार्य में भी महत्त्व पूर्ण भाग लिया है। और उस से भी उनके पास लक्ष्मी के भंडार भरपूर रहे हैं। जैनधर्म के गुरुओं ने प्राप्त लक्ष्मी के सदुपयोग के लिए जैन श्रावकों को सतत प्रेरित किया है। और उस उपदेश के अनुसार श्रावकों ने भी दान-पुण्य आदि सुकृत्यों में लक्ष्मी का यथेष्ट सद्व्यय किया है।

जैन गृहस्थों के जीवन कृत्य में सबसे मुख्य स्थान जैन मंदिर को दिया गया है। इससे प्रत्येक धनाढ्य जैन गृहस्थ की यह महत्त्वाकांक्षा रहती है कि यदि शक्ति और सामग्री प्राप्त हो तो छोटे-मोटे एक नये जैन मंदिर का निर्माण करना, और यदि उतनी शक्ति न हुई तो सामुदायिक रूप से भी मंदिर या मूर्ति के निर्माण में या उसकी पूजा-प्रतिष्ठा करने में यथाशक्ति सहयोग करना; इस प्रकार जैसे भी हो अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग उक्त कार्य में अवश्य करना। मंदिर निर्माण को उस काल के जैनाचार्यों ने जो इतना महत्त्व दिया और उस कार्य के द्वारा पुण्य प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा को जाग्रत करने के लिए श्रावकों को आचार्यों ने जो लक्ष्मी की सार्थकता का सतत उपदेश दिया उसी से जैनों ने गुजरात में आज तक हजारों जैन मंदिरों का निर्माण किया और लाखों की संख्या में जैन मूर्तिओं की प्रतिष्ठा करवाई। गुजरात के छोटे-बड़े प्रायः सभी ग्राम-नगरों में छोटे-बड़े असंख्य जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। और इस प्रकार गुजरात की स्थापत्य कला का अद्भुत विकास सिद्ध हुआ। उन सुन्दर और सुरम्य मंदिरों के अस्तित्व से गुजरात के कितने ही क्षुद्र ग्रामों को नगर की शोभा प्राप्त हुई और नगरों को अपनी सुन्दरता के कारण स्वर्गपुरी की विशिष्ट आकर्षकता मिली। दुर्भाग्य से गुजरात के उन दिव्य देवमंदिर और भव्य कला धामों का विधर्मिओं के हाथों से व्यापक विध्वंस हुआ है और आज तो उन में से सहस्रांश भी विद्यमान नहीं फिर भी जो थोड़े बहुत अवशेष बचे हैं उनके दर्शन से गुजरात की स्थापत्यकला के विषय में आज हमको यत्किञ्चित् स्मृति संतोष हो सके ऐसा आह्लाद होता है, उसके लिए हमें जैनों को ही धन्यवाद देना चाहिए।

शत्रुंजय, गिरनार, तारङ्गा, आबू और पावागढ़ जैसे गुजरात के पर्वत शिखर जो आज प्रवासिओं के आकर्षण का विषय बने हुए हैं, उनके ऊपर यदि जैनों के द्वारा निर्मित देव मन्दिर नहीं होते, तो उनका नाम भी कौन याद करता? अहमदाबाद में मुसलमानों की मस्जिदों को छोड़ कर यदि हठीभाई का जैन मन्दिर न होता तो वहाँ दूसरा ऐसा कौनसा हिन्दू स्थापत्य का सुन्दर कलाधाम है जिसे हिन्दू अपनी जातीय शिल्पकला के सुन्दर स्थान के रूप में पहचानते?

अवनति के इस अन्तिम युग में भी जघडिया, कावी, छांणी, मातर, वारेजा, पेथापुर, पानसर, सेरिसा, संखेश्वर, भोयणी, मेत्राणा आदि अनेक छोटे गावों में और दूर जङ्गलों में जैनों ने लाखों रुपया खर्च करके भव्य मन्दिरों का निर्माण किया है। और ऐसा करके देश की शोभा में सुन्दर अभिवृद्धि की है, सेरीसा, संखेश्वर, पानसर और भोयणी जैसे अत्यन्त क्षुद्र ग्राम भी आज भव्य जैन मन्दिरों के शिखरों के कारण मानों मुकुटधारी ग्रामवर बन गये हैं। और यात्रियों के आराम के लिये खड़ी की गई विशाल धर्मशालाओं से वे एक छोटे से शहर का दृश्य उपस्थित कर रहे हैं।

उन देव मन्दिरों के दर्शनार्थ हिन्दुस्तान के कोने कोने से प्रत्येक वर्ष में हजारों जैन यात्री आते हैं और उन गाँवों की भूमि को पुण्य भू गिन कर वहाँ की धूलि मस्तक पर चढ़ाते हैं। गुजरात के वे भग्न गाँव जैन मन्दिरों के कारण पुण्यधाम बन गए हैं। सैंकड़ों भव्य जैन प्रति प्रातःकाल—"सेरीसरो संखेसरो पञ्चासरो रे" ऐसे नामोत्कीर्तन पूर्वक, जिस प्रकार हिन्दू लोग काशी, कांची, जगन्नाथपुरी जैसे धामों की प्रातः स्तुति करते हैं, उसी प्रकार उन गाँवों का मङ्गल पाठ करते हैं। जैनों ने इन आधुनिक मन्दिरों के द्वारा गुजरात की शिल्प-कला को जीवित रखा है। यदि इस प्रकार जैनों ने मन्दिरों के निर्माण के द्वारा शिल्पिओं को प्रश्रय नहीं दिया होता तो आज हिन्दुस्थापत्य के सिद्धान्तानुसार एक साधारण स्तम्भ का भी निर्माण कर सके ऐसे शिल्पी दुर्लभ हो जाते।

देव मंदिरों की रचना के पीछे जो उदार और उदात्त भावपूर्ण ध्येय रहा हुआ है, जो सस्कार और सदाचार के प्रेरक तत्त्व रहे हुए हैं, उनको हम भूल गए हैं, और इसीसे आधुनिक मन्दिर संस्था उपकारक होने के स्थान में अनेक अंशों में अपकारक हो रही है। आज मन्दिरों को हमने पुण्यधामों के स्थान में एक प्रकार के पण्यागार जैसे बना रखे हैं। धर्मार्जन के बदले वे द्रव्यार्जन की दुकाने हो गई हैं। इस विषय में अन्य लोगों की अपेक्षा जैन अधिक दोष पात्र हैं यह कटु सत्य जैन बन्धुओं के रोष को स्वीकार करके भी कहना पड़ता है।

वैष्णवों के मन्दिर तो आज उनके नाम के अनुसार 'महाराजों की हवेलियां' हैं। उन मन्दिरों-हवेलियों में जाने पर हमें देवमन्दिर का तनिक भी आभास नहीं मिलता किन्तु किसी विलासी गृहस्थ के मकान में हम जा पहुँचे हैं ऐसा भास होता है। गुजरात के वैष्णव मन्दिरों को इस प्रकार बनियों के घरों के सदृश आकार प्रकार में किसने और कब परिवर्तित कर दिया उसका कुछ भी पता मुझे नहीं मिलता। मालवा, मारवाड़, मेवाड़ आदि देशों में सैंकड़ों वैष्णव मन्दिर हैं

जो स्थापत्य और पावित्र्य की दृष्टि से जैन मन्दिरों के समान ही भव्य और प्रशस्त हैं। द्वारका, डाकोर या गिरनार जैसे स्थानों में ऐसे ही दो चार वैष्णव मन्दिर कदाचित् हो सकते हैं किन्तु इनके अलावा गुजरात में कहीं भी ऐसे मन्दिर दिखाई नहीं देते। यद्यपि गुजरात के वैष्णव लोग जैनों की अपेक्षा अधिक धनवान् और धर्मचुस्त दिखाई देते हैं।

गुजरात का शैवधर्म तो आज बिलकुल शिथिल दशा में है। ऐसे समृद्ध और संस्कारयुक्त देश में एक मात्र सोमनाथ को छोड़ कर दूसरा एक भी बड़ा शैवधाम या भव्य शिवालय दृष्टिगोचर नहीं होता जिसकी ख्याति दूर देशों में फैली हुई हो। चालुक्यों के समय में जिस गुजरात के गाँव-गाँव में और सीम सीम में सुन्दर शिवालय शोभित होते थे और संध्या समय में उन शिवालयों में होने वाले शंखध्वनि और घंटानाद से गुजरात भूमि का समस्त वायुमण्डल शब्दायमान होता था, इस भक्तभूमि को आज मानो शंकर भगवान् छोड़ कर चले गए हैं, उनकी यह श्रद्धाशील धरतीमाता शोकग्रस्त हो कर संध्यावंदन, मंगल गान न को स्थगित करके हताश हो स्तब्ध हो गई हो ऐसा प्रतीत होता है। 'हर महादेव' का घोष आज गुजरात में क्वचित् ही सुना जाता है। भूदेव सिर्फ नोजन के समय ही मोदक दर्शन से प्रमुदित होकर अपने इष्टदेव का स्मरण नामोच्चारण करते दिखाई देते हैं; इसको छोड़कर उस शैव समाज की शिवो-ाना आज नाम की ही रह गई है और शिवालयों का अधिकांश उपेक्षित हो तव्यस्त हो रहा है।

ाधर्म और जैनधर्म के स्थापत्य

महाराज मूलराज ने सिद्धपुर में रुद्रमहालय की स्थापना की और उस में ा-अर्चा के लिए एक सहस्र ब्राह्मण कुलों को उत्तर भारत से बहुत दान-न के साथ बुला कर गुजरात में ब्रह्मपुरिओं का निर्माण किया। उन ब्रह्मकुलों निर्वाहार्थ उसने अनेक गाँव दान में देकर 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' के ताम्रपत्र ख दिये। मूलराज के वंशजों ने भी उत्तरोत्तर उनके दान-मान में वृद्धि की। ार इस प्रकार समस्त गुजरात में ब्राह्मण वंशजों के सुखपूर्वक जीवनयापन ी व्यवस्था कर दी गई। पाटन के उक्त राजवंश के पतन के साथ म्लेच्छों के ार्थों से अणहिलपुर और सिद्धपुर के उन विभूतिमान् शिवालयों का भी विध्वंस ुआ। उन में से सिद्धपुर के रुद्र महालय का तो पुनरुद्धार उस समय में शाह ालिग देशलहराने किया। शाह सालिक शत्रुंजय तीर्थ के महान् उद्धारक ामराशाह का बन्धु था। और जाति से ओसवाल तथा धर्म से जैन था। किन्तु

उसके बाद किसी भी शैव भक्त जन ने या शिव के उपासक हजारों ब्रह्म-बन्धुओं ने भी उस महालय की रक्षा या जीर्णोद्धार के लिए कुछ प्रयत्न किया हो यह जानने में नहीं आया। मुगलों के अधिकार नाश के बाद सद्भाग्य से वह स्थान शिवाजी के सैनिक मराठा सरदारों के शासन में आया और भाग्य-बल से सिद्धराज जैसे ही संस्कारप्रिय श्रीमंत सरकार सयाजी राव[1] महाराज आज उस श्रीस्थल के स्वामी हैं। क्या चक्रवर्ती सिद्धराज की स्वर्गवासी आत्मा यह आशा नहीं रखती होगी कि उसकी जीवन साधना के महान् कार्य रूप उस रुद्र महालय का, उसी का सधर्मा और उसी की प्रियभूमि का समर्थ स्वामी पुनरुद्धार करे?

कलोल के पास सेरिसा गाँव में पार्श्वनाथ का एक प्रसिद्ध तीर्थ था जहाँ वस्तुपाल-तेजपाल ने भव्य मंदिर का निर्माण किया था। म्लेच्छों ने उस स्थान को इस प्रकार नष्ट भ्रष्ट कर दिया कि उसका एक पत्थर भी वहाँ मिलना दुर्लभ हो गया था। किन्तु अहमदाबाद के एक धर्मप्रिय उदार सेठ साराभाई डाह्या भाई ने उक्त तीर्थ का पुनरुद्धार करने में अपनी अस्थिर लक्ष्मी का सदुपयोग करना शुरू किया और उसी के फलस्वरूप आज वहाँ अष्टमंगलोपेत महाध्वज और सुवर्णकुम्भों से समलंकृत शिखर वाला एक भव्य और सुन्दर जैन मंदिर सुशोभित हो रहा है। प्रति वर्ष हजारों यात्री वहाँ दर्शन करने आते हैं और सैंकड़ों वर्षों तक नष्ट भ्रष्ट होने वाले तीर्थ का पुनरुद्धार हुआ देख कर आनन्द और आह्लाद का अनुभव करते हैं। जैनों की ओर से इस प्रकार का तीर्थोद्धार का कार्य समस्त देश में सतत चालू है। जैनों की इस देवभक्ति और तीर्थरक्षा की भावना का शैवों और वैष्णवों को भी अनुकरण करना चाहिए। और नष्ट भ्रष्ट हुए तीर्थस्थानों का योग्य रूप में पुनरुद्धार कर के देश की शिल्पकला और रूप शोभा में अभिवृद्धि करनी चाहिए।

मंदिरों की प्रशस्ति

सुन्दर और भव्यदेव मंदिर यह ग्राम और नगर के विभूतिमान् अलंकार हैं, पवित्रता के प्रेरक धाम हैं उत्सव और प्रीतिभोज के लिए आनन्द भवन हैं, अनजान अतिथि के लिए उन्मुक्त आश्रयस्थान हैं, शोक और संताप के निवारक रङ्गमण्डप हैं, गरीबों और धनिकों—प्रजाजनों को एकासन पर बैठाने वाले व्यास-पीठ हैं, भक्त और मुमुक्षु जीवों को आध्यात्मिक भावों में रमण करने के मुक्त

1. अब स्वर्गस्थ हैं। और बरोडा राज्य भी बंबई प्रान्त के अन्तर्गत हो गया है।

क्रीडाङ्गण हैं, संगीत और नृत्य की सात्त्विक शिक्षा देनेवाले उत्तम विद्यालय हैं, पण्डितों और सन्तों की ज्ञान-विज्ञानपूर्ण वाणी सुनने के विशाल व्याख्यान गृह हैं, राजा और रङ्क दोनों के लिए समानरूप से हृदय के दुःख का भार दूर करने और आश्वासन पाने के आशानिकेतन हैं और आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्ति देने वाले मोक्षधाम हैं।

प्राचीन काल में हमारे देवमंदिर ही सामाजिक कार्य के लिये सभामण्डप थे। देवमन्दिर ही हमारे विद्यागृह थे। देवमंदिर ही अतिथि भवन थे। देवस्थान ही नाट्यगृह, न्यायालय और धर्माधिष्ठान थे। हमारी सब प्रकार की राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के केन्द्र हमारे ये देवमंदिर ही थे। यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने देव-मन्दिरों की रचना और रक्षा करने में मनुष्य जन्म की कृतकृत्यता मानी है। सम्राट् से लेकर एक साधारण प्रजाजन की जीवन की महत्त्वाकांक्षा का वह एक लक्ष्य स्थान माना गया है। किन्तु वर्तमान में मात्र जैनों को छोड़ कर इतर हिन्दुओं में यह भावना बहुत शिथिल हो गई है और जैसा कि मैंने पहले सूचित किया, अपने देवस्थानों की रक्षा करने में जितने जैन जागृत रहे हैं उतने जैनेतर जागृत नहीं रहे हैं। देवमंदिरों की पवित्रता की रक्षा के लिए जैनों ने जिस उदारता का परिचय दिया और जिस भावना को पुष्ट किया है उसका अन्य धर्मावलम्बिओं में अधिकांश में अभाव ही देखा जाता है। इसी से जैनों की अपेक्षा इतर हिन्दु देवमंदिर आज हमारे ऐसे समृद्ध और धर्मप्राण देश में भी अनेक प्रकार से महत्त्वहीन और अस्तव्यस्त दशा में पड़े हों—ऐसा दीखता है।

शैव मंदिरों की दुर्दशा और जैन मंदिरों की सुरक्षा

'वनराज के राज्याभिषेक के समय में स्थापित पाटण का पञ्चासर पार्श्वनाथ का जैन मन्दिर आज भी जब देश देशान्तर के हजारों यात्रियों को आकृष्ट कर रहा है तब चौलुक्य चक्रवर्तिओं द्वारा स्थापित समस्त गुजराती प्रजा के राष्ट्र-मन्दिर के योग्य ऐसे 'सोमेश्वर प्रासाद' और 'त्रिपुरुष प्रासाद' जैसे महान् शिवालयों के अस्तित्व की भी देश वासियों को कुछ खबर ही नहीं रही है। देश में रहने वाले लाखों शैवधर्मी—जिनमें अनेकानेक राजा, महाराजा, जागीरदार, सरदार, कोट्याधिपति आदि का समावेश होता है वे आज अपने राष्ट्र और धर्म के इष्ट देव की ऐसी उपेक्षा करें यह वस्तुतः शोचनीय है।

आप में से कुछ लोगों ने आबू की यात्रा की होगी। आबू में अचलगढ़ के ऊपर अचलेश्वर महादेव का बड़ा तीर्थ धाम है। यह अचलेश्वर लाखों क्षत्रियों

के इष्ट देव हैं। शिरोही के राजा के तो वे कुलदेवता ही हैं, इसके अलावा भी राजस्थान के सभी राजाओं के परम उपास्य देव हैं। उक्त अचलेश्वर महादेव के मन्दिर की कैसी दयनीय स्थिति है यह देखने वालों से अपरिचित नहीं। उस अचलेश्वर के पास ही टेकरी के ऊपर जैनों का मन्दिर है; वह कितना स्वच्छ, भव्य और सुन्दर है। यदि उक्त दोनों मन्दिरों की तुलना की जाय तो 'कहाँ राजा भोज और कहाँ रङ्क गांगा तैली' यह लोकोक्ति याद आ जाती है। जैनों ने उस समस्त पर्वत के शिखर के मार्ग को पक्का बना दिया है। शिखर के ऊपर छोटी बड़ी अनेक धर्मशालाओं का निर्माण किया है और यात्रिओं के रहने के लिये बहुत अच्छी व्यवस्था की है। पानी की, भोजनालय की तथा ताजे ताजे फल फूल शाक के मिलने की भी व्यवस्था की है। देवालय में मानो साक्षात् देवता आकर नाचते हों इतना स्वच्छ और सुरम्य उसका प्रांगण है। धूप दीप और पुष्पों से मन्दिर के मण्डप महक रहे हैं, मानों दूध से धो डाले हों ऐसे वे उज्ज्वल और सुधाधौत हैं। जब कि उक्त अचलेश्वर का मन्दिर मैला, गन्दा, कुरूप और यत्र तत्र कचरे से परिपूर्ण, महीने में भी एक बार जहाँ सफाई न होती हो ऐसा धूलिधूसरित दिखाई देता है। मन्दिर के चौक में ही गन्दे बाबा लोग पड़े हुए हों, रसोई पकाते हों, जूठन फैंकते हों, वहीं थूकते हों—पेशाब करते हों ऐसा दृश्य वहाँ का है। मैं जब कभी वहाँ जाता हूँ तो यह दृश्य देख कर अत्यन्त ग्लानि होती है। और हमारी ऐसी धार्मिक अधोगति देख कर मन में अतिशय संताप होता है।

कहाँ हैं वे अचलेश्वर के उपासक जिन्होंने लाखों मन सुवर्ण का दान वहाँ दिया था? कहाँ हैं वे भव्य नृपति, जो राज वैभव छोड़ कर उस महायोगी के महा मंदिर में दिन और रात 'शिव' 'शिव' ऐसी महा ध्वनि करके समाधि की साधना में लीन होकर बैठे रहते थे? कहाँ हैं वे अनेक महर्षि जो इस पशुपति के पुण्य सान्निध्य में परब्रह्म की प्राप्त्यर्थ कई वर्ष तक ब्रह्मचिन्तन और गायत्री-गान किया करते थे? कहाँ हैं वे अनेक योगी जो उस ज्योतीश्वर के गर्भागार के सुवर्ण घटित घंटनादों से गुञ्जायमान होने वाली गिरिमेखलाकी एकान्त कंदराओं में कन्दमूल और फलफूल खाकर कठोर तपस्या करते थे और योगकी दिव्य विभूतिओं को हस्तगत करते थे? उस काल में लाखों नर-नारी भारत के कोने कोने से नाना प्रकार के कष्टों को झेल कर उस धाम की यात्रा करने आते थे। और उस महेश्वर के प्रसाद को शिर पर चढ़ाकर जीवन को कृतकृत्य समझते थे। मेरे अभिप्राय से अचलेश्वर अमुक अंश में समस्त गूर्जर संस्कृति और गूर्जर पौरुष का प्रेरक धाम है, गूर्जर लोगों का वह कैलास है और गूर्जर क्षात्रधर्म की वह यज्ञवेदी है।

ऐसे इस पवित्र धाम की आज उपरिवर्णित दुःखदायक दुर्दशा है। शिरोही महाराज और बीकानेर महाराज, जयपुर दरबार और उदयपुर दरबार और ऐसे कितने ही राजा-महाराजा आज भी उस अचलेश्वर के दर्शन करते हैं फिर भी किसी राजा महाराजा को यह सूझ नहीं कि जिस देव को उनके पूर्वजों ने अपने देह तक दे दिये थे उस देव के योग्य पूजा प्रक्षालन की और उसके मंदिर की सफेदी की तो कुछ व्यवस्था करे ! शिरोही महाराज ने किसी ट्रेवर नाम गौराङ्ग देव की स्मृति को अमरता प्रदान करने के लिये करीब लाख रुपयों का खर्च करके आबू पर्वत के ऊपर 'ट्रेवर टालर' नामक बन्ध बांधा और उसमें सिर्फ गोरी चमड़ी वाले सैनिकों का ही नंगे होकर नहाने की और उसकी मछलिओं को पकड़ कर खाने की पुण्यकारी व्यवस्था कर दी ! किन्तु अचलेश्वर के सेवक कहे जाने वाले उस राज्य के आधुनिक किसी राजा ने वहाँ के पवित्र माने जाने वाले मंदाकिनी कुण्ड में लागों को शौच जाने से रोकने की कोई व्यवस्था नहीं की।

ऐसी दुर्दशा मैंने मेवाड़ के महाधाम एकलिङ्गेश्वर में भी कुछ अंशों में देखी है, और उज्जयिनी के महाकालेश्वर की भी देखी है, इनके मुकाबले में जैनों के शत्रुंजय, गिरनार, तारंगा, केसरिया जी आदि तीर्थों को देखें और उनकी व्यवस्था देखें। इन दोनों में जमीन आसमान का भेद है। वह ऐसा ही है जैसा बंबई में वालकेश्वर में स्थित धनिकों के महालयों में और भूलेश्वर में गुमास्ताओं के मालों में है।

जैन और शैव मन्दिरों की व्यवस्था के विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है उसका विपरीत अर्थ आप न लें कि ऐसा कह कर मैं जैनों का बड़प्पन दिखाना चाहता हूँ और जैनेतरों की हीनता। मेरा अभिप्राय तो सिर्फ इतना ही है कि जैन जिस प्रकार अपने देवस्थानों की पवित्रता सुरक्षित रखने का यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं वैसा जैनेतर नहीं करते। यही कारण है कि गुजरात में जैनेतर मंदिरों की भव्यता आज दृष्टि गोचर नहीं होती। इस वस्तुस्थिति को मैं हमारी प्रजाकीय धार्मिक भावना की बड़ी क्षति की सूचक समझता हूँ।

राष्ट्रीय ममत्व का अभाव

जैन हो, शैव हो, वैष्णव हो, बौद्ध हो या फिर ईसाई या मुस्लिम हो, किसी भी प्रजा के धार्मिक स्थानों की अधोगति उस प्रजा के जीवन की ही अधोगति की सूचक है। हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि इंगलैण्ड, फ्रांस या जर्मनी जैसे युरोपीय जडवादी देशों में आज धार्मिक बाह्य आचरणों का कुछ भी

महत्त्व नहीं है। धर्मगुरु या धर्म ग्रन्थों के ऊपर वहाँ आज तनिक भी श्रद्धा और भक्ति नहीं देखी जाती। फिर वहाँ के धर्मस्थान-गिरजाघरों की पवित्रता और प्रतिष्ठा की उतनी ही सुरक्षा की जाती है। वहाँ के लोग गिरजाघरों को आज मोक्ष का दैवी धाम नहीं मानते फिर भी अपनी जातीय संस्कृति और अस्मिता के प्रेरक स्थान के रूप में अत्यन्त आदर से उनको स्वीकार करते हैं। राष्ट्रीय कला कौशल के अपूर्व स्मारक रूप में वे उनकी महत्ता का गान करते हैं। और कितने ही धन और जन की बलि से भी उनकी रक्षा करने के लिए वे लोग सदा तत्पर रहते हैं। भौतिक विज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर स्थित जर्मन प्रजा आज भी जातीय संस्कृति और स्थापत्य के उत्तम निदर्शक ऐसे अनेक नये नये गिरजाघरों का निर्माण करती है। और उसमें करोड़ो रूपयों का खर्च राष्ट्रीय खजाने में से करती है। वहाँ की प्रजा यह मानती है कि गिरजा घर समस्त प्रजा की सर्व साधारण सम्पत्ति है। संपूर्ण राष्ट्र की संयुक्त संपत्ति है। प्रत्येक प्रजा जन को वह स्वकीय वस्तु प्रतीत होता है। और इसी लिये प्रत्येक प्रजाजन उसके लिये ममत्व भाव रखता है। दुर्भाग्य से अपने देश में ऐसी प्रजाकीय भावना जागृत नहीं है। यही कारण है कि हम अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का विकास कर नहीं सकते हैं। धर्म, जाति और संप्रदाय की संकीर्ण भावना ने हमारा राष्ट्रीय गौरव कुंठित कर दिया है, गतप्राण बना दिया है।

पारस्परिक विद्वेष

जैनों के भव्य मंदिरों को देख कर किसी वैष्णव को आनन्द नहीं होगा और किसी वैष्णव के सुन्दर धाम को देख कर जैन को आनन्द नहीं होगा। शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन सभी की यही दशा है। इतना ही नहीं किन्तु जैन में भी श्वेताम्बर मंदिर के प्रति दिगम्बर का और दिगम्बर मंदिर के प्रति श्वेताम्बर का द्वेषभाव है। हमारी यह संकीर्ण भावना राष्ट्रीय ऐक्य और अस्मिता में बाधक है। और इसी से हमारी उन्नति में भी विघात होता है। भले ही हमारी धार्मिक मान्यता में भेद हो और उस से हम अन्य धर्म के देवस्थानों को अपने आध्यात्मिक कल्याण का साधन मान कर न पूजें फिर भी वह भी हमारे ही राष्ट्र की बहुमूल्य संपत्ति है, हमारे ही राष्ट्र की एक उत्तम विभूति है, हमारे ही कलाकारों का एक सुन्दर कलाकर्म है, हमारी ही निवास भूमिका एक मनोरम आभूषण है और हमारे ही पड़ोसी भाई का एक पवित्र धाम है—इस दृष्टि से उस पर हमारा ममत्व क्यों नहीं हो और उसे देख कर अह्लाद का अनुभव क्यों नही हो ?

हम धन का संचय करने में किसी धर्म या संप्रदाय का विचार नहीं रखते। पैसा यदि मिलता हो तो एक जैन भी वैष्णव के साथ साझा कर लेगा और वैष्णव जैन के साथ। यदि वेतन अच्छा मिलता हो तो एक हिन्दू मुसलमान की नौकरी कर लेता है और मुसलमान ईसाई के यहाँ। इस प्रकार सांसारिक स्वार्थ सिद्ध करने में किसी कौम और संप्रदाय के संस्कार बाधक नहीं होते, तो फिर धर्म जैसे पारमार्थिक विषय में वे संस्कार क्यों बाधक होते हैं? और क्यों हम पारस्परिक द्वेष और शत्रुता को पुष्ट करते हैं ? ऐसे द्वेष और शत्रुत्व से न तो हमारी भौतिक उन्नति हो सकती है और न आध्यात्मिक। उससे तो एकान्त अवनति और अशान्ति ही प्राप्त होती है। हमें यह बात सर्व प्रथम समझ लेनी चाहिए।

अस्तु यह तो मैंने थोड़ा विषयान्तर किया अब मूल विषय का विचार किया जाय।

साहित्य रचना

जिस प्रकार स्थापत्य कला का विकास करके जैनों ने गुजरात को अपूर्व और आकर्षक शोभा अर्पित की है उसी प्रकार साहित्य की विविध रचना द्वारा जैनों ने गुजरात को अनुपम ज्ञान समृद्ध किया है। गुजरात की साहित्य समृद्धि बहुत विशाल है। अणहिल पुर के अभ्युदय काल के प्रारम्भ से आज तक जैनों ने गुजरात में रह कर जिस साहित्य की रचना की है उसकी तुलना के लिये दूसरा कोई देश नहीं है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती और नवीन गुजराती ऐसी विविध भाषाओं के हजारों ग्रन्थों से गुजरात के ज्ञानभंडार परिपूर्ण हैं। प्राकृत भाषा जो हमारे देश की समस्त आर्य भाषाओं की मातामही है उसका विपुल भण्डार एक मात्र गुजरात की संपत्ति है। वलभी युग के आरम्भ से मुगलाई के अन्त तक गुजरात के जैन यति प्राकृत ग्रन्थों की रचना करते और इस प्रकार प्राकृत भाषा का अखण्ड परिचय गुर्जर-प्रजा को वे देते रहे हैं। प्राकृतभाषा के उक्त परिचय सातत्य के कारण गुजराती भाषा के विकास क्रमका इतिहास हमें अतीव सुलभ और सुस्पष्टरूप से प्राप्त हो सकता है।

हिन्दी, मराठी, बंगाली और गुजराती भाषाओं की साक्षात् जननी जो मध्यकालीन अपभ्रंश भाषा मानी जाती है उसका भी जितना विपुल और विशिष्ट साहित्य गुजरात के जैन भण्डारों में प्राप्त होता है उतना अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। वनराज चावडा के राज्याभिषेक के युग से लेकर कर्ण वाघेला के पतन

के समय के दरमियान की प्रत्येक शताब्दी की जैन यतिओं द्वारा निर्मित ऐसी अनेक अपभ्रंश कृतियाँ अणहिल पुर के भंडारों में से हमे प्राप्त होती है।

जैन पंडित हमेशा प्राचीन और वर्तमान दोनों भाषाओं के उपासक रहे हैं। और उन्होंने दोनों प्रकार के भाषा साहित्य को अपनी कृतिओं से अलंकृत किया है। प्राकृत और संस्कृत इन दोनों पुरातन भाषाओं के साथ अपभ्रंश युग में उन्होंने अपभ्रंश भाषा को समृद्ध बनाने के लिये उसमें भी उतनी ही साहित्य रचना की है। और युग के व्यतीत होने पर जब गुजराती भाषा के युग का प्रारंभ हुआ तब उसमें भी उतनी ही तत्परता से रचना करने लग गये।

आ० हेमचन्द्र के जीवन की समाप्ति के साथ ही अपभ्रंश भाषा के जीवन की भी समाप्ति हुई और गुजराती भाषा के उदय काल का प्रारंभ हुआ उस उदय काल के आदि क्षण से लेकर आज तक जैन विद्वानों ने गुजराती भाषा की अविरत सेवा की है और जिसकी तुलना किसी भी देशी भाषासे न की जा सके उतनी अधिक कृतिओं से उस भाषा के भण्डार को उन्होंने परिपूर्ण किया है। विद्या विलासी और संस्कृति-प्रतिमूर्ति महाराजाधिराज सयाजी राव के प्रशंसनीय आदेश से स्व० विद्वान् श्री चमन लाल दलाल ने पाटण के भण्डारों का विस्तृत पर्यवेक्षण किया था। और फलस्वरूप गुजराती भाषा के उस पुरातन अमूल्य जवाहिर को विश्व के समक्ष रखने का अपूर्व उद्योग किया था। उसके फलस्वरूप हममें उस जवाहिर के खजानों की शोध की जिज्ञासा जागृत हुई। जैन विद्वान् श्री[1] मोहन लाल देसाई अंतिम करीब २० वर्ष से गुजराती भाषा में ग्रथित जैन साहित्य की शोध कर रहे हैं। और उसके फलस्वरूप उन्होंने अब तक में हजार हजार पृष्ठ के तीन ग्रन्थ तैयार किये हैं। उनको देखने से आप यह कल्पना कर सकेंगे कि जैन विद्वानों ने गुजराती भाषा की कैसी उत्कृष्ट सेवा की है।

अणहिलपुर, भरूच, खम्भात, कपडवंज, धोलका, धंधुका, कर्णावती, डभोई, वडोदरा, सुरत, पालनपुर, पाटडी, चन्द्रावती, ईडर, वडनगर, आदि गुजरात के प्रत्येक मध्यकालीन नगरों के उपाश्रयों में रहकर जैन यतिओं ने असंख्य संस्कृत ग्रन्थों की रचना की है। और उन ग्रन्थों में व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, साहित्य, छंद, नाटक, न्याय, आयुर्वेद ज्योतिष, गणित, आख्यान, प्रबन्ध आदि ज्ञान-विज्ञान के समस्त विषयों का समावेश किया है। सैंकड़ों ऐसे कथा ग्रन्थ हैं जिनमें गुजरात के सामाजिक लोक जीवन विषयक विविध सामग्री मिल

१ अब वे स्वर्गस्थ हैं।

सकती है। उस काल में प्रचलित सैंकड़ों गुजराती लोक कथाओं को लौकिक संस्कृत भाषा में परिवर्तित कर के उन के भी अनेक संग्रह उन्होंने ग्रथित किये हैं। गुजरात के मध्य कालीन इतिहास की यथाश्रुत घटनाओं को ग्रन्थबद्ध करके गुजरात के इतिहास को सुरक्षित रखने के लिये उन्होंने ऐतिहासिक-अर्ध ऐतिहासिक ऐसे संख्याबद्ध प्रबन्धों की रचना की है। गुजरात के राष्ट्रिय इतिहास का जितना संरक्षण जैनों ने किया है उस का सहस्रांश भी जैनेतरों ने नहीं किया। धार्मिक मनोवृत्ति की संकीर्ण भावना के कारण यदि जैनों की उस महान् राष्ट्र देन की कीमत कम आंकी जाय या उसे अस्वीकार जिया जाय तो एक प्रकार का राष्ट्रद्रोह ही समझा जाना चाहिए।

गुजरात के पास उसके अपने सन्तानों की रचना के रूप में ज्ञान-विज्ञान के सर्व विषयों की उत्तमोत्तम कृतियाँ विद्यमान हैं। इस प्रकार से जैनों ने गुजरात को साहित्य साम्राज्य की दृष्टि से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र राष्ट्र बनाया है।

वस्तुतः गुजरात के साहित्यिक समृद्धि के भण्डारों को परिपूर्ण करने का यश जैनों को है फिर भी उत्तम साहित्य सर्जन की प्रेरणा जैनों ने कहाँ से और किस प्रकार ली उसका भी तनिक विचार हो जाना चाहिए। यद्यपि यह विवेचन विस्तृत होना चाहिए। उस की पूर्वभूमिका का पता लगाने के लिए हमें गुजरात के पुरातन इतिहास के बहुत से पन्ने उलटने पड़ेंगे। जिसके लिए यहाँ अवकाश नहीं है; फिर भी अत्यंत संक्षित रूप में उसके विषय में कुछ बातें कह देता हूँ।

गुजरात की अस्मिता का उत्थान

गुजरात के सुवर्ण काल के प्रस्थापक चौलुक्य नृपति उत्कट स्वदेश प्रेमी थे। उनकी महत्त्वाकांक्षा गुजरात को भारत का मुकुटमणि बनाने की थी। शक्ति, संस्कृति और समृद्धि में गुर्जर देश अन्य देशों की अपेक्षा तनिक भी–पिछड़ न जाय उनकी साम्राज्य नीति का यह महनीय मुद्रालेख था। वे जितने शौर्यपूजक थे उतने ही संस्कारप्रिय भी थे। साहित्य, संगीत, स्थापत्य आदि सत्कलाओं का उनको शौक था। कलाकोविदों के वे श्रद्धाशील भक्त थे। वे अपने शौर्य बल से जिस प्रकार गुजरात के साम्राज्य की सीमा का विस्तार चाहते थे; उसी प्रकार उत्तमोत्तम स्थापत्य की रचना द्वारा गुजरात के नगरों की शोभा बढ़ाना चाहते थे। विद्वान् और विशेषज्ञों का समूह संग्रह करके उनके द्वारा साहित्य रचना करवाते थे और इस प्रकार गुर्जर प्रजा की ज्ञान ज्योति को विकसित करते

थे। भारत के अन्य राज्यों में जैसे जैसे विशिष्ट देवस्थान या जलाशय आदि स्थापत्य के सुन्दर कार्य हुए हों या होते हों वैसे कार्य गुजरात में भी होने चाहिए। दूसरे प्रान्तों में जैसे विद्यापीठ और सारस्वत भाण्डार विद्यमान हों वैसे विद्यापीठ और भाण्डार गुजरात में भी होने चाहिए। भारत के अन्य राजदरबारों में जैसे समर्थ विद्वान्, पण्डित, कवि, मन्त्री, राजदूत, सेनानायक, नीतिविशारद, व्यापारप्रवीण और अन्य कलानिपुण पुरुष विद्यमान हों वैसे या उनसे भी बढ़कर श्रेष्ठ पुरुषरत्न गुजरात की राजसभा को शोभित करने वाले होने ही चाहिए–यही उनकी साम्राज्य जिगीषा का मुख्य ध्येय था। गुजरात की शक्ति और संस्कृति के विषय में यत्किञ्चित् भी आक्षेप या लघुता हो–यह उनको स्वप्न में भी असह्य था। उनके इस उत्कट देश प्रेम और संस्कार रुचि ने उन्हें अपने देश में रुद्रमहालय, त्रिपुर प्रासाद, और सोमेश्वर आदि सैकड़ों भव्य महालयों के निर्माण की प्रेरणा दी, कर्णसरोवर, मिनलसरोवर, सिद्धसर जैसे अनेक महासरोवरों के निर्माण के लिए उत्साहित किया, स्थान-स्थान पर सुन्दर तोरण और कीर्तिस्तम्भ खड़े करने को उत्कंठित किया; बड़े बड़े सारस्वत भाण्डागार स्थापित करने और सत्रागार सहित विद्यामठों को स्थापित करने के लिए प्रवृत्त किया।

नृपोंका धार्मिक समभाव और उसका फल

धर्म और उपासना के विषय में वे अतीव समदर्शी थे। उनके समय में गुजरात में मुख्यरूप से दो ही प्रजाधर्म प्रवर्तित थे–शैव और जैन। चौलुक्यों का कुलधर्म शैव था फिर भी वे जैनधर्म के प्रति भी पूर्ण सद्भाव रखते थे। जैन-मंदिरों को राज्य की ओर से पूजा-सेवा के लिये अधिक मात्रा में भूमिदान आदि दिये जाते थे। पर्व और उत्सवों के प्रसंग में राजा लोग खूब धूमधाम से जैन मंदिरों में जाते थे और श्रद्धापूर्वक स्तुति प्रार्थना करते थे।

उनकी ऐसी धार्मिक समदर्शिता और संस्कारप्रियता के कारण जैन आचार्य विशेष रूप से आशान्वित थे। अतः उस राज्य की महत्ता और कीर्ति बढ़े ऐसा हृदय से चाहते थे और तदनुसार प्रवृत्ति करते थे। चौलुक्यों के शासन काल में जैन धर्म को उत्तम संरक्षण मात्र ही मिला हो यह बात नहीं, किन्तु उत्तम पोषण भी मिला था। इससे जैन विद्वान् निर्भय, निश्चिंत और निश्चिलमना होकर अणहिलपुर तथा उसके आस पास के सुस्थान और सुग्रामों के उपाश्रयों में बैठ कर उक्त प्रकार की विविध साहित्यिक रचना करके गुजरात की प्रजा को ज्ञान से

समृद्ध करते थे। गुजरात की गुणगरिमा की वृद्धि करते थे। गुजरात की ऐसी ज्ञान गरिमा के कारण ही गुजरत को "विवेक बृहस्पति" का सम्मानास्पद बिरुद मिला था। और ऐसी स्थिति की उत्पत्ति में उक्त प्रकार से जैनाचार्यों ने अग्र भाग लिया था।

गुजरात में सदाचार वृद्धि—

सदाचार के विषयमें भी जैनधर्म ने गुजराती प्रजाकी समुन्नतिमें सविशेष भाग लिया है। जैन धर्म आचारप्रधान धर्म है; यम-नियम, तप-त्याग आदि के विषय में जैन धर्म में पर्याप्त भार दिया जाता है। अहिंसा तो जैन आचार विचार का ध्रुव बिन्दु ही है। उसी को लक्ष्य करके जैन धर्म के सभी आचारों का संविधान हुआ है। अहिंसा की संपूर्ण व्याख्या तो बहुत गहन है। उसकी स्थूल व्याख्या यह है कि मनुष्य को किसी भी मनुष्य पशु आदि किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए किसी भी प्राणी का नाश नहीं करना चाहिए। इस स्थूल व्याख्या के भी उत्सर्ग अपवाद आदि भेद प्रभेद और गौण-मुख्य आदि विविध प्रकार हैं। उसकी सूक्ष्मता में जाना यहाँ अनावश्यक है।

सामान्यतः इतना जानना आवश्यक है कि जैन धर्म की दीक्षा का सर्व प्रथम और सर्व प्रधान नियम है जीव हिंसा का त्याग। जो मनुष्य स्थूल जीव हिंसा का भी त्याग नहीं कर सकता वह जैन धर्म का अनुयायी भी नहीं हो सकता। मांसाहार के लिए ही प्रायः मनुष्य स्थूल जीव हिंसा करते हैं। मांसाहार के निमित्त से ही जगत में नित्य प्रति लाखों करोड़ों पशु, पक्षी, मछली आदि प्राणिओं का संहार होता है। यह संहार तभी कम हो सकता है जब मनुष्य मांसाहार को कम करे। इस दृष्टि से जैन मांसाहार के सबसे अधिक विरोधी रहे हैं। जहाँ जहाँ उनके वश की बात हो वहाँ वहाँ वे मांसाहार का निषेध करने कराने में प्रयत्नशील रहते आये हैं। सचमुच ऐसा करके वे जीवहिंसा को कम करने में अपनी शक्ति का पूरा उपयोग करते आये हैं। अकबर बादशाह जैसे मुगल सम्राट् को भी जैनाचार्यों ने अपने सदुपदेश द्वारा हिंसा के निषेध की ओर सुरुचिसंपन्न बना दिया था। इसीसे उन्होंने अपने साम्राज्य में वर्ष में कई दिनों तक जीव हिंसा न करने के फरमान निकाले थे, तथा उन्होंने स्वयं भी वर्ष के अमुक मासों में और दिनों में मांसाहार सर्वथा न लेने का नियम ले रखा था।

यह तो कहा ही जा चुका है कि चौलुक्यों के शासन काल में गुजरात में जैनों का काफ़ी प्रभाव था इसके अलावा उस वंश का सबसे प्रतापी और शूरवीर राजा

कुमारपाल जैनधर्म में संपूर्ण श्रद्धावान् होकर अपनी उत्तरावस्था में उसने ग्रहस्थोचित दृढ दीक्षा भी स्वीकृत की थी। उस राजा ने अपने संपूर्ण साम्राज्य में जीवहिंसा को रोकने के लिए आग्रहपूर्वक राजाज्ञाएँ दी थीं, और मांसाहार न करने के लिए तथा देवी देवताओं को बलि न चढ़ाने के लिए राज्य घोषणाएँ की थीं। मांसाहार और जीवहिंसा के निषेधक—ऐसे सतत आदेशों और प्रचार के कारण गुजरात की प्रजा में से ये बातें बहुत कम हो गई। आज समस्त हिन्दूस्तान में गुजरात ही ऐसा है जहाँ सबसे कम मांसाहार है और सबसे कम जीवहिंसा होती है। मांसाहार के निषेध के साथ ही मद्य और व्यभिचार के निषेध के लिए भी गुजरात में ही अधिक प्रयत्न किया गया है।

गुजरात के उच्च गिने जाने वाले प्रजावर्ग में उन दुर्व्यसनों का सर्वथा तो नहीं किन्तु अत्यधिक मात्रा में भी जो प्रशस्य अभाव देखा जाता है उसका कारण पूर्वकालीन जैन आचार्यों के उपदेश का प्रभाव ही है। गुजरात में मद्य का प्रचार सिर्फ तथाकथित निम्न जातियों में है और वह भी अंग्रेजों के शासन काल में ही बढ़ा है। मांस, मद्य और व्यभिचार की प्रबलता के अभाव में प्रजा में खून और संत्रास की प्रवृत्ति भी कम हो यह स्वाभाविक है। समस्त भारत वर्ष में आज गुजराती प्रजा शान्तिप्रिय, सौम्यस्वभावसम्पन्न, विशिष्ट दयाभाव युक्त और दुःखित जनों को उदारता पूर्वक दान देने वाली है—ऐसी ख्याति है। उन गुणों की उन्नति गुजरात में जो हुई है उसका कारण जैन संस्कारों की सतत प्रेरणा और प्रोत्साहन रहा है ऐसा मेरा नम्र मत है।

गुजरात में पिछड़ी हुई जाति का मनुष्य भी सर्प, बिच्छू जैसे भयङ्कर और विषैले जीवों का भी बिना कारण घात करने में पाप मानेगा और कारण मिलने पर भी उनकी हत्या करने में सङ्कोच का अनुभव करता है। इसके विपरीत अन्य प्रदेशों में रहने वाला उच्च ब्राह्मण जन भी सर्पादि का नाम मात्र सुन कर उसकी हत्या करने को उत्साहित हो जाता है। गुजरात का किसान गरमी के दिनों में शुष्क होने वाले तालाबों की मछलियों की सुरक्षा के लिए अनेक प्रयत्न करता हुआ नजर आता है जब कि बंगाल, बिहार आदि प्रदेशों का ब्रह्मवादी और सर्व शास्त्र पारगामी भूदेव भी मछलियों के मारने और मरवाने की व्यवस्थित प्रवृत्ति में लीन हुआ देखा जाता है।

पिंजरा पोल संस्था

अनाथ और अपंग पशुओं के पालन पोषण और संरक्षण करने वाली पिंजरा पोल जैसी प्राणी दया की पुण्यसंस्था स्थापित करने का सबसे पहला श्रेय गुज-

राती प्रजाजन को ही मिलना चाहिए। मारवाड़, मेवाड़ और मालवा आदि प्रदेशों में इस संस्था का जो अस्तित्व है वह भी गुजरात के ही असर से है। पिंजरापोल संस्था के प्रधान प्रचारक और संचालक जैन हैं यह सर्वविदित है। यह एक दूसरी बात है कि आज वह पिंजरापोल संस्था उसके अज्ञान और असमयज्ञ संचालकों के द्वारा अत्यन्त दया जनक और दुर्व्यवस्थित दशा को प्राप्त है, तब इससे विचारशील वर्ग द्वारा यह निन्दा के पात्र भी हुई है। किन्तु यह दोष व्यवस्था का है संस्था का नहीं।

संस्था का मूल उद्देश्य तो प्राणिओं की शुद्ध सेवा का है और तद्द्वारा मानव हृदय की भूतदया की भव्यभावना के विकास का है। जैन इस कार्य में प्रतिवर्ष आज भी लाखों रूपयों का खर्च करते हैं। जितना ध्यान अनाथ असमर्थ जैन बालकों के संरक्षण और पालन पोषण में भी नहीं दिया जाता उतना मूक पशु प्राणिओं के पालन-पोषण के निमित्त दिया जाता है यह स्पष्ट है। किन्तु व्यवस्था के दोष के कारण इस कार्य में प्रायः पुण्य के स्थान में कुछ पाप का भी उपार्जन किया जाता होगा। समयानुकूल सुव्यवस्था के फलस्वरूप यह संस्था आज हमारे दरिद्र देश के लिए अनेक प्रकार से अधिक उपयोगी हो सकती है।

अहिंसा विषयक आक्षेप का उत्तर

जीवदया की ऐसी प्रवृत्ति और तद्द्वारा की जाने वाली अहिंसा की पुष्टि के विषय में कभी कभी यह आक्षेप सुनाई देता है कि जैनों के इस अहिंसा प्रचार के कारण प्रजा में शौर्यवृत्ति और क्षात्रधर्म शिथिल हुए और फलस्वरूप आर्य प्रजा पौरुषहीन होकर पराधीन बन गई—इत्यादि।

अहिंसा के विषय में उक्त आक्षेप सर्वथा भ्रमात्मक और तत्त्वशून्य है। मैंने जैसे प्रथम सूचित किया है उस रीति से जैनधर्म की अहिंसा की कल्पना और व्याख्या बहुत विशाल और गम्भीर है। उक्त व्याख्या के अनुसार दृश्य तथाकथित अहिंसा वस्तुतः हिंसा हो सकती है और स्थूल दृष्टि से दृश्य हिंसा भी सिद्धान्त संमत अहिंसा हो सकती है। हिंसा-अहिंसा की सिद्धि और साधना का आधार सिर्फ बाह्य प्रवृत्ति ही नहीं है किन्तु बाह्य प्रवृत्ति में रहे हुए हेतु की शुद्धि-अशुद्धि के कारण होने वाली आन्तरिक वृत्ति है। जैन या अन्य कोई जिसे अहिंसा समझते हों और अपनी जिस प्रवृत्ति को अहिंसा की पोषक मानते हों वह भी इस तत्त्व दृष्टि के अनुसार वस्तुतः अहिंसा हो भी सकती है या नहीं भी हो सकती। तत्त्वतः अहिंसक व्यक्ति अहिंसा धर्म के पालने के निमित्त किसी

समय चींटी जैसे क्षुद्रतम जन्तु के प्राण बचाने के लिए भी अपने प्राणों का परित्याग कर सकता है जबकि दूसरे किसी अवसर में अपनी अहिंसा पालन के ही निमित्त से चक्रवर्त्तिओं के महासैन्यों का भी संहार स्वयं कर सकता है और करा भी सकता है। इस प्रकार अहिंसा धर्म 'कुसुमादपि कोमल' और 'वज्रादपि कठोर' है। उसका शुद्ध आचरण तलवार की धार पर चलने जैसा कठिन कार्य है।। सर्वस्व के त्याग की तैयारी के बिना इस अहिंसा धर्म का सम्पूर्ण पालन शक्य नहीं है। और न राग द्वेष के विजय के विना अहिंसा की सिद्धि हो सकती है। आधुनिक जैन समाज इस अहिंसा की सम्पूर्ण साधना करता है ऐसा मेरा मन्तव्य या वक्तव्य नहीं है किन्तु मैं तो बताना यह चाहता हूँ कि अहिंसा की निःशंक व्याख्या क्या है। देश काल की परिस्थिति का विवेक पूर्वक विचार किये विना, मूढभाव से यदि कोई समाज अहिंसा की अन्ध प्रवृत्ति करता हो तो वह वास्तविक अहिंसा नहीं हो सकती। उस प्रवृत्ति का परिणाम यदि बहु जन समाज के लिये हानिकर होता हो तो वह निरी हिंसा ही है। अतः ऐसी अन्ध प्रवृत्ति अवश्य दोष और तिरस्कार की पात्र होती है।

जैन सेनापतियों का पराक्रम

किन्तु अहिंसा की ऐसी रूढ या अन्ध प्रवृत्ति के साथ भी प्रजा की पराधीनता का तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। अहिंसा के माम को जिन्होंने स्वप्न में भी नहीं सुना ऐसे अनेक प्रजा वर्ग जगत् के इतिहास में पराधीन हुए हैं और होते रहे हैं। अहिंसा की इस तात्त्विक विचारणा को छोड़ कर यदि उसे हम व्यावहारिक दृष्टि से सोचें तो पता लगेगा कि जैनों ने अहिंसा का ऐसा अनर्थ तो कभी नहीं किया जिससे प्रजा की शौर्यवृत्ति नष्ट हो गई हो। उल्टा जैनसमाज और गुजरात का इतिहास तो इस बात का साक्षी है कि अपने देश का संरक्षण करने के लिए जैनों ने बड़े बड़े क्षत्रिय वीरों से भी बढ़ कर उत्साह दिखलाया था। गुजरात के साम्राज्य के उत्कर्ष के लिए जैनधर्मी वीर योद्धाओं ने अनेक रण-संग्राम खेले हैं और अद्‌भुत युद्ध कौशल बताया है। गुजराती भूमि में कभी कभी तो जो दुर्धर्ष कार्य क्षत्रिय पुत्र भी न कर सके वह इन तथाकथित वणिक पुत्रों ने करके दिखाया है।

आबू के जगत्प्रसिद्ध कलाधाम आदिनाथ मंदिर का निर्माता विमलशाह जैन ऐसा प्रचंड-सेनानायक हो गया है जिसने गुजरात के सैन्यों को सिन्धु नदी के नीर में तैरता करके गजनी की सीमा को पददलित करनेवाला बना दिया। मंत्री

उदयन के पुत्र दण्डनायक आंबड ने गुर्जर सैन्यों को सह्याद्रि की घाटियाँ किस प्रकार पादाक्रान्त करना यह अनुभव पाठ सैन्यों के साथ रहकर के दिये और अपने सम्राट् की शत्रुविजिगीषा किस प्रकार पूर्ण करना इस की सोपपत्तिक शिक्षा देने के लिये मल्लिकार्जुन जैसे बलवान् कोंकणाधीश नृपति का स्वहस्त से कण्ठकर्तन करके मस्तक रूप श्रीफल के द्वारा गुर्जर नरेन्द्र की चरण पूजा करके दिखलाई। गुजराती योद्धाओं को विन्ध्याचल की अटवी कैसे पददलित करना और उसमें यथेच्छ विहरने वाले गजयूथों को किस प्रकार शिक्षा देकर के अणहिल पुर की हस्तिशालाओं को अजेय बना देना इस बात की अपूर्व विद्या मंत्री लहर ने दी थी। धनुर्विद्या में प्रवीण उसी दण्डनायक ने अणहिल पुर के सन्निकट विन्ध्यवासिनी देवी का बड़ा पीठ स्थापित करके उसके प्राङ्गण में गुर्जर सैनिकों और प्रजाजनों को धनुर्विद्या के शौर्यपूर्ण पाठ पढ़ने-पढ़ाने के लिये पाठशाला खड़ी की थी।

उदयन मंत्री ने सोरठ के ऊपर धावा बोल कर रा'खेंगार का राज्य नष्ट किया और सिद्धराज को चक्रवर्ती पद दिलाया। मंत्री वस्तुपाल ने गुजरात के स्वराज्य को नष्ट होने से बचाने के लिए अपनी जिन्दगी में त्रेसठ बार युद्धभूमि में गूर्जर सेना का संचालन किया था। उसके युद्धकौशल के प्रताप से दिल्ली के इस्लामी सैन्यों को भी गुजरात की सीमा में पराजय प्राप्त हुआ था। भीमदेव दूसरा जब नाबालिग था तब उसका एक सज्जन नामक जैन सेनानायक था जो नियमतः सायं-प्रातः प्रतिक्रमण करता था। जब युद्ध प्रसंग होता तो वह हाथी के हौदे पर बैठे बैठे घड़ी भर एकाग्रचित्त होकर अपने अहिंसा धर्म के आध्यात्मिक नियम का पालन कर लेता और शेष समय में शत्रुसंहार की रणभेरी फूँक अपने प्रजाकीय राष्ट्रीय धर्म का पालन करता था। उसी के सेनापतित्व में आबू की तलहटी में शहाबुद्दीन जैसे महान् सुल्तान को भी पराजित होना पड़ा था—इसे मुसल्मान तवारीखों में भी माना गया है।

गुजरात के इतिहास में ऐसे अनेक वृत्तान्त मिलते हैं जिनके अनुसार जैन-धर्म के समर्थ उपासक वणिकों ने क्षत्रियों के जैसा ही रणशौर्य दिखलाया है। और शत्रुओं के संहार के द्वारा अपने राष्ट्रधर्म के पालन की सम्पूर्ण साधना करके दिखा दी है। मुगलों के जमाने में भी दिल्ली और राजपुताना के राज्यों में अनेक शूर-वीर जैन वणिक हो गए हैं जिन्होंने उच्च सेनाधिपतित्व जैसे पदों को शोभित किया है। जिनके सेनाधिपतित्व में हजारों राजपूतों, मुगलों, अरबों, और पठानों ने बड़े-बड़े जङ्ग लड़े हैं। जयपुर, जोधपुर उदयपुर आदि राजपुताना

के राज्यों के इतिहासों में इस बात के अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। इतने विवेचन से स्पष्ट है कि अहिंसा धर्म के उपासकों ने क्षात्रधर्म को शिथिल कर दिया है या प्रजा के पौरुष को हतोत्साह बना दिया है—यह आक्षेप सर्वथा अज्ञान-सूचक और इतिहास विरुद्ध है।

राष्ट्र सेवा—

पूर्व काल के जैन जितने धर्म प्रिय थे उतने ही राष्ट्र भक्त भी थे और जितने राष्ट्रभक्त थे उतने ही प्रजावत्सल भी थे। उनकी लक्ष्मी का लाभ धर्म, राष्ट्र प्रजागण इन सब को समान रूप से मिलता था। वे साधर्मिक वात्सल्य भी करते और प्रजासंघ को भी भोज देते थे। वे जैन मंदिरों के अलावा सार्वजनिक स्थानों का भी निर्माण करते थे। वे जैनयतिओं के साथ ही ब्राह्मण वर्ग को भी सम्मान देते थे। शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा के साथ सोमनाथ की भी यात्रा करते और द्वारका भी जाते थे।

वस्तुपाल-तेजपाल

वस्तुपाल तेजपाल बन्धुयुगल आदर्श जैन थे। जैनधर्म की प्रभावना के लिए जितने द्रव्य का व्यय उन्होंने किया इतना किसी अन्य ने किया हो यह इतिहास में नहीं मिलता। मध्ययुग के इतिहास काल में जितने समर्थ जैन उपासक हो गए हैं उनमें वस्तुपाल सबसे महान् था, जैनधर्म का यह श्रेष्ठ पतिनिधि था। एक साधारण जैनयति के अपमान का बदला लेने के लिए उसने गुर्जरेश्वर महाराज वीसलदेव के सगे मामा का हस्तच्छेद करा दिया था। उसका स्वधर्माभिमान इतना उग्र था। फिर भी जैन धर्म स्थानों के अलावा उसने लाखों रुपये का खर्च करके जैनेतर धर्म स्थान भी बनवाये थे। सोमेश्वर, भृगुक्षेत्र, शुक्लतीर्थ, वैद्यनाथ, द्वारका, काशीविश्वनाथ, प्रयाग, गोदावरी आदि अनेक हिन्दू तीर्थस्थानों की पूजा-अर्चा के निमित्त उसने लाखों का दान किया था। सैंकड़ों ब्रह्मशाला और ब्रह्मपुरियों का निर्माण किया था। पथिक जनों के आराम के लिए जगह जगह पर अगणित कुएँ और वाटिकाएँ निर्मिति की थीं, अनेक सरोवरों और विद्यापीठों का निर्माण किया। सैंकड़ों अरक्षित गाँवों में दुर्गों का निर्माण किया, सैंकड़ों शिवालयों का पुनरुद्धार किया। सैंकड़ों वेदपाठी ब्राह्मणों को वर्षासन दिये। इन सब कार्यों से भी अतिविशिष्ट और अनुपम कार्य तो उसने यह किया कि मुसलमानों के लिए नमाज पढ़ने लिए अनेक मस्जिदों

को बनवाया। हजारों रुपयों का खर्च करके गुजराती शिल्पकला के सुन्दरतम नमूने के रूप में एक उत्कृष्ट संगमरमर का तोरण बनवाकर उसने इस्लाम के पाक धाम मक्का शरीफ को भेंट रूप भिजवाया था। अपने धर्म में चुस्त रहते हुए भी अन्य धर्म के प्रति ऐसी उदारता दिखलाने वाला और अन्य धर्म के स्थानों के लिए इस प्रकार लक्ष्मी का व्यय करने वाला उसके समान दूसरा कोई पुरुष भारतवर्ष के इतिहास में मुझे तो अज्ञात ही है। जैनधर्म ने गुजरात को वस्तुपाल जैसे असाधारण सर्वधर्मसमदर्शी और महादानी महामात्य की अनुपम भेंट दी है।

शाह समरा और सालिग

वस्तुपाल और तेजपाल जैसे सर्वथा अद्वितीय भाग्यशाली तो नहीं किन्तु उनके गुणों के साथ अनेक प्रकार से साम्य रखने वाले उनके बाद शाह समरा और सालिग यह बन्धुयुगल पाटण में हुआ। उन्होंने अलाउद्दीन के प्रलयंकर आक्रमण के समय गुर्जर प्रजा की अनेक प्रकार से अद्भुत सेवा की थी। उन्होंने अपनी असाधारण राजकीय पहुँच के कारण गुजरात के सैंकड़ों जैन और हिन्दू देव स्थानों का मुसल्मानों के हाथों सर्वनाश होना रोक दिया था तथा नष्ट भ्रष्ट हुए देवस्थानों का पुनरुद्धार किया व कराया था। हजारों प्रजाजनों को उन्हों ने मुसलमानों के विघातक कैदखानों से मुक्ति दिलाई थी। पाटण का स्वराज्य नष्ट हुआ उस समय गुर्जर प्रजा को आपत्ति के काल में आश्वासन देने वाले जो भी महाजन थे उन में शाह समरा और उन के भाई अग्रणी थे। वस्तुपाल-तेजपाल के समान उनके सत्कृत्यों का इतिहास भी सुविस्तृत है।

जगडु शाह

संवत् १३१३–१४–१५ में गुजरात और उसके आस-पास के प्रदेश में सर्वभक्षी ऐसा महाभयंकर दुष्काल हुआ जब कि वीसलदेव जैसे महाराजों और सिंध के बड़े अमीरों के लिए भी अपने आश्रितों को खाने के लिए अन्न देना दुष्कर हो गया था तब सामान्य प्रजा का तो कहना ही क्या? ऐसी स्थिति में कच्छ भद्रेश्वर का रहने वाला शाह जगडु वणिक, जिसने आनेवाले भयंकर दुष्काल की आगाही अपने गुरु से सुन कर लाखों मन अनाज का संग्रह किया था उसे, उसने दुष्काल पीड़ित प्रजा को खुले हाथ बांट कर गुजरात के लाखों मनुष्यों को उस समय जीवनदान दिया था।

आ० हीरविजय सूरि और भानुचन्द्र उपाध्याय

अकबर के समय में हीरविजयसूरि और उन के शिष्यों ने अपने उपदेश कौशल द्वारा अकबर को प्रसन्न किया था और उससे गुजरात की समस्त प्रजा के लिए प्रजा पीड़क जजिया कर से माफी दिलाई थी। अकबर के सैन्य ने जब सोरठ जीत लिया तब उसने वहाँ के हजारों प्रजाजनों को बंदी बनाया था। उन्हें हीरविजयसूरि के शिष्य भानुचन्द्र उपाध्याय ने बादशाह से बड़ी मुश्किल से शाही हुकुम प्राप्त करके छुड़ाया था। एवं दूसरे भी कई जैनों ने बादशाहों और सुलतानों के पास से गाय-भैंस आदि देश के बहुमूल्य पशुधन की हत्या न हो इस के लिए फरमान प्राप्त किये थे। निःसंदेह ऐसा कर के देश की जीवित संपत्ति की समय समय पर सुरक्षा की थी। इसी तरह के अनेक दृष्टांत हैं जबकि जैनों ने धर्म के अलावा अपने देश के हित के लिए भी उतना ही अधिक प्रयत्न और देश की उत्तम सेवा की है।

इतिहास का संरक्षण

गुजरात के उत्कर्ष कालीन इतिहास की स्मृति का संरक्षण भी सबसे अधिक जैनों ने ही किया है यह तो अब सुप्रसिद्ध तथ्य है। मूलराज से लेकर कुमारपाल तक के चौलुक्य महाराजाओं के वंश का सुकीर्तन आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यबद्ध किया है। उस वंश के राजर्षि कुमारपाल का धार्मिक जीवन सोमप्रभ, यशःपाल प्रभाचन्द्र, मेरुतुङ्ग, जयसिंह सूरि और जिनमण्डल आदि अनेक जैन विद्वानों ने ग्रन्थबद्ध किया है। प्रभाचन्द्र, मेरुतुङ्ग, राजशेखर आदि प्रबन्धकारों ने मूलराज, भीमदेव, सिद्धराज, कुमारपाल आदि राजाओं के यथाश्रुत इतिवृत्तों के कितनेक प्रकरण पुस्तकबद्ध किये। वस्तुपाल की कीर्तिकथा करने वालों ने वीरधवल वाघेला के वंश को इतिहास में अमर किया है। तदुपरान्त अनेक दूसरे ग्रन्थकारों और लेखकों ने अपने अपने समय के कितनेक नृपतिओं और अमात्यों के बारे में छोटे-बड़े उल्लेखों द्वारा उनके अस्तित्व और समय आदि के विषय में प्रकीर्ण होने पर भी उपयोगी तथ्यों की सामग्री संगृहीत की है जो कि इतिहास की त्रुटित शृङ्खला के मिलाने में अत्यधिक सहायक हो सकें ऐसी है। एक काश्मीर को छोड़ कर हिन्दुस्तान के दूसरे सब प्रदेशों की अपेक्षा गुजरात का मध्यकालीन इतिहास अधिक विस्तृत, अधिक व्यवस्थित और अधिक प्रमाणभूत मिलता है। इस बात का मुख्य यश जैन विद्वानों को ही है।

कितनेक अति आलोचना प्रिय इतिहास गवेषक जैनों की इस इतिहास सेवा को स्वमतरंजित अतएव अतिशयोक्ति पूर्ण मान कर उसकी वास्तविकता को

कम करने के लिये जब कभी प्रयत्न करते नजर आते हैं, तब उस प्रयत्न में इतिहासनिष्ठा की अपेक्षा कुछ सांप्रदायिक असहिष्णुता का ही अधिक अंश मुझे प्रतीत होता है। इसीसे मेरुतुङ्ग ने जो यह कहा है कि 'तद्द्वेषी नैव नन्दति' वह अधिक सत्य मालूम होता है। वस्तुतः उस सभी ऐतिहासिक जैन सामग्री का हमें प्रामाणिक रूप से ऊहापोह अवश्य करना चाहिए, इतिहास विवेचन की परिभाषा के अनुसार उसकी विवेचना भी होनी चाहिए और साधक बाधक प्रमाणों की कसौटी द्वारा उसके सत्यत्व और मिथ्यात्व की जांच भी करनी ही चाहिए। पर साथ ही वह जैन लेखक के द्वारा लिखी गई है, या जैनधर्म से सम्बद्ध है इतने मात्र से किसी उक्ति या कथन को सदा और सर्वत्र शङ्का चिह्न के साथ तो नहीं रखना चाहिए। प्रबन्धकारों का समस्त वक्तव्य सर्वथा इतिहास सिद्ध है ऐसा कोई इतिहासकार नहीं मान सकता। स्वयं प्रबन्धकारों का भी यह दावा नहीं। परन्तु जब तक उसके विरुद्ध कोई सबल प्रमाण हमारे पास न हो तब तक उनके कथन को एक सामान्य इतिहासगर्भित कथन के रूप में यदि स्वीकार कर लिया जाय तो उसमें कुछ अनैतिहासिकता का दोष नहीं है। उन प्रबन्धकारों ने जिस प्रकार जैनधर्म से सम्बद्ध अनेक बातों का संग्रह किया वैसे ही धर्मनिरपेक्ष अनेक बातों का भी संग्रह किया है। इतना ही नहीं, जैनेतर धर्मों की महत्त्वपूर्ण किंवदन्तिओं का भी समानभाव से संग्रह किया है। अतएव उनका हेतु केवल जैनधर्म की महिमा वर्णन का ही था ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। भले ही वह हेतु मुख्य रहा हो फिर भी गुजरात के इतिहास की सर्व साधारण और सार्वजनिक घटनाओं को ग्रन्थबद्ध करने की भी उनकी अभिरुचि अवश्य रही है। मिनल देवी सोमनाथ की महा यात्रा करने गई और उस तीर्थ के प्रत्येक यात्री से लिये जाने वाले मुंडकावेरा से वह अत्यन्त खिन्न हुई और इससे सिद्धराज के द्वारा उस वेरे को बन्द कराके उस महान् तीर्थ की यात्रा को सर्वजन सुलभ बना दिया—इस तरह के सर्वसामान्य तथ्यों का मेरुतुङ्ग ने अपने प्रबन्ध चिन्तामणि में और राजशेखर ने प्रबन्धकोष में जो उल्लेख किया है उसका जैनधर्म के साथ भला क्या सम्बन्ध है ? वस्तुतः उन प्रबन्धकारों को देश में प्रचलित पुरानी कथाओं को संगृहीत करने का शौक था इसी से उन्होंने जो कुछ पढा या सुना उसे अपनी पद्धति और रुचि के अनुसार लेखबद्ध करके पुस्तकारूढ़ कर दिया। उस समय के प्रबन्धकारों को न तो हमलोगों की ऐतिहासिक दृष्टि ज्ञात थी और न क्रमबद्ध इतिहास लिखने की पद्धति ही परिचित थी। व्यक्ति विशेष के जीवन में कौन सी घटना ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्व की है और कौन सी सामान्य

है उसकी तुलना करने का या उस दृष्टि से उसका उल्लेख करने का उनका तनिक भी प्रयत्न न था। उनका उद्देश अधिकांश में उपदेशात्मक लिखने और कुछ अंश में मनोरञ्जन करने का था। उन ऐतिहासिक घटनाओं को अपने श्रोताजनों के समक्ष वे इसलिये रखते थे कि श्रोता, उपदेशक को जिस वस्तु का प्रतिपादन करना हो उसकी सप्रमाणता स्वीकृत कर सके और उनमें से योग्य उपदेश ग्रहण कर सके। उपदेश के हेतु के बिना कुछ अन्य घटनाओं को वे मात्र प्रसङ्गोचित सभारञ्जन करने के लिये ही दृष्टान्तरूप से कहते थे और उस दृष्टान्त में कितनी ही व्यक्तियों का किञ्चित् अधिक परिचय देने के लिये उनके जीवन से सम्बद्ध कुछ छोटी बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं का भी वे उल्लेख करते थे। इस प्रकार जिन ऐतिहासिक घटनाओं का वे उल्लेख करते थे वे सर्वथा इतिहास संगत ही हैं या कुछ न्यूनाधिक हैं, जिन घटनाओं का सम्बन्ध जिस व्यक्ति के साथ जोड़ा जाता है वह यथार्थ है या अन्यथा—इस विचारणा का उनको कुछ विशिष्ट प्रयोजन ही उपस्थित नहीं होता था। अतएव उन्होंने "यादृशं श्रुतं तादृशं लिखितम्"—इस सूत्र का ही सामान्य रूप से अनुसरण प्रबन्ध ग्रन्थों की रचना में किया है। उन प्राचीन प्रबन्धों का अध्ययन व संशोधन इसी दृष्टि को समक्ष रखकर ही करना चाहिए और उसी रूप में उनका योग्य उपयोग भी। किसी भी रूप में सही पर हमारे देशकी यत्किञ्चित् भी प्राचीन स्मृति को उन प्रबन्धकारों ने ही सुरक्षित रखा है; अन्यथा वह संपत्ति आज हमारे लिये सर्वथा अप्राप्य होती।

इस प्रकार गुजरात के जैन धर्म ने अपनी आश्रय भूमि को अपनी क्या देन दी उसका रेखाचित्र खींचने का मैंने तनिक प्रयत्न किया है। गुजरात को उस जैन धर्म का परिचय कैसे और कब प्राप्त हुआ इसका भी संक्षिप्त सिंहावलोकन करना यहाँ स्वतः प्राप्त है।

गुजरात में जैन धर्म का प्रचार

वस्तुतः गुजरात जैन धर्म की जन्म भूमि नहीं है। और न जैन धर्म का कोई मुख्य प्रवर्तक गुजरात में उत्पन्न ही हुआ। फिर भी हमारे पूर्व कथन से स्पष्ट है कि गुजरात जैन धर्म के लिए सर्व श्रेष्ठ और सर्व प्रिय आश्रय स्थान बना है। इतिहास युग में जैन धर्म ने अपना जो कुछ उत्कर्ष सिद्ध किया है वह गुजरात में ही सिद्ध किया है। देखा जाए तो गुजरात में ही सब से अधिक उत्कर्ष भी हुआ है। गुजरात की भूमि एक तरह से जैन धर्म की दृष्टि से दत्तक पुत्र की माता के समान है। फिर भी उसकी गोद में जैन धर्म ने जन्म दात्री भूमि की अपेक्षा भी अधिक

प्रेम और वात्सल्य का लाभ लिया है। गुजरात और जैन धर्म के प्रकृति मेल में ऐसे कौन से ऐतिहासिक कारणों और सामाजिक तत्त्वों का हिस्सा है इसका इतिहास बहुत रसप्रद और क्रान्ति सूचक है। किन्तु इसके विशेष विवेचन का यह अवसर नहीं है। इसके लिए तो हमें कुछ विशेष तफसील में जाने की जरूरत है। जैन धर्म की आचार-विचारात्मक प्रकृति के परिचय के साथ ही गुजरात के जिन प्रजाजनों ने जैन धर्म का स्वीकार किया उनके लाक्षणिक जाति परिचय की भी मीमांसा करना आवश्यक है। इसके अलावा गुजरात के राजकीय परिवर्तनों की और भौगोलिक परिस्थितओं की भी विस्तृत विचारणा करना चाहिए।

जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति और जाति की विशिष्ट प्रकृति होती है; उसी प्रकार प्रत्येक धर्म की भी खास प्रकार की प्रकृति होती है। ब्राह्मण, बौद्ध, शैव, वैष्णव, जैन आदि प्रत्येक धर्म की बिशिष्ट प्रकृति है। जैसे अमुक प्रकृति के मनुष्य को अमुक प्रदेश की आबोहवा विशेष अनुकूल या प्रतिकूल हो जाती है, वैसे धर्म के लिए भी कुछ प्रादेशिक वातावरण अनुकूल या प्रतिकूल हो जाता है। जैन धर्म की अहिंसा प्रधानप्रकृति को गुजरात और उसके आसपास के प्रदेश की सामाजिक, राजकीय और भौगोलिक सब प्रकार की परिस्थिति विशेष रूप से अनुकूल हो गई जिससे वह धर्म उस प्रदेश में सुदृढ और विकसित हुआ— सिर्फ इतना ही मैं यहाँ इशारा करना चाहता हूँ। गुजरात की भौगोलिक परिस्थिति ऐसी है कि उस भूमि में प्राचीन काल से अनेक जातियाँ यहाँ आकर बसती रही हैं और इस प्रकार यहाँ के निवासियों को दूसरी जातिओं के साथ सतत समागम होता आया है। आर्य और अनार्य, वैदिक और अवैदिक, ग्रीक और रोमन, इजिप्शियन और पर्शियन, सिथियन और पार्थियन, हूण और अरब, ईरानियन और मंगोलियन इस प्रकार से विविध जाति के विदेशिओं का निवास भिन्न भिन्न समय में छोटी-बड़ी संख्या में उस भूमि में हुआ है। उन में से अधिकांश अपना जाति पार्थक्य छोड़कर एक महा हिन्दू जाति के रूप में मिश्रित हुए हैं। इसलाम के उदय के पहले उस भूमि में वास करने वाले ऐसे अनेक भिन्न जातीय जनों के अद्‌भुत संमिश्रण युक्त यह प्राचीन हिन्दू समाज गुजरात में था। वह समाज तब किसी विशिष्ट प्रकार के रूढ धार्मिक-संस्कारों से जकड़ा हुआ नहीं था और जाति और वर्ण की संकीर्णता के वर्तुल से घिरा हुआ भी नहीं था। ऐसे समय में जैन धर्म ने गुजरात की भूमि में पदार्पण किया था। जैनधर्म के निष्परिग्रही, निर्लोभ, निर्मग्र और तपस्वी उपदेशकों के दान, शील, तप और भावना पोषक सतत प्रवचनों ने गुजरात के उन हजारों प्रजाजनों में जैनधर्म के प्रति विशिष्ट श्रद्धा उत्पन्न की। धीरे-धीरे क्षत्रिय, वैश्य और कृषिकारों

के अनेक कुटुम्बों ने जैनधर्म को स्वीकार किया और जिस जाति या वर्ण में मांसाहार या मद्यपान का प्रचार था उसका त्याग कर के वे समानधर्मी कुटुम्बों की पृथक् गोष्ठिओं के रूप में संगठित हो गए। प्रत्येक गाँव के ऐसे संगठित जैन गोष्ठिकों ने अपने अपने स्थान में जैनमंदिरों का निर्माण किया और उन्हीं में अपनी सभी धर्म क्रिया करने लग गए। लाट, आनर्त, सौराष्ट्र और मालवा के प्रदेशों में जब क्षत्रियों की सत्ता प्रवर्तमान थी तब जैनधर्म का इस प्रकार उन प्रदेशों में धीरे धीरे किन्तु स्थायी प्रचार शुरू हुआ।

इस के बाद थोड़े ही समय में हूण और गुर्जर लोगों का एक पराक्रमी जन समूह पंजाब की ओर से दक्षिण पूर्व भाग में आगे बढ़ा और दिल्ली, आगरा, अजमेर के प्रदेशों से होता हुआ वह अर्बुदाचल की पश्चिम दिशा में स्थित मरु प्रदेश में आकर रुक गया। सिंध, कच्छ और मरुभूमि की सीमाओं में स्थित भिल्लमाल नाम के स्थान को उन्होंने अपनी राजधानी बनाई। उसके आस पास का समस्त प्रदेश हूण और गुर्जर लोगों से आबाद हुआ। गुर्जरों के संख्या बाहुल्य से उस प्रदेश की गुर्जर देश के रूप में अभिनव ख्याति हुई। और इस प्रकार गुजरात का नूतन जन्म हुआ। अणहिल पुर के उदय से पहले गुर्जर संस्कृति और सत्ता का केन्द्र भिल्लमाल था। गुर्जरों के पराक्रम और पुरुषार्थ के बल से वह स्थान श्री और समृद्धि से प्लावित हो गया। इसी से उसका दूसरा नाम श्रीमाल भी प्रसिद्ध हुआ। हूण और गुर्जर लोगों को जैनधर्म का उपदेश देने के लिये कितनेक समर्थ जैनाचार्य उस गुर्जर देश में जा पहुँचे। उनके ज्ञान और चारित्र के प्रभाव से बहुत से गुर्जर आकृष्ट हुए, और उन के उपदेशानुसार जैन धर्म को स्वीकार करने लगे। भिल्लमाल ऊर्फ श्रीमाल में बड़े बड़े जैन मंदिरों का निर्माण होने लगा। प्रतिवर्ष सैकड़ों कुटुम्ब जैन गोष्ठिकों के रूप में जाहिर होने लगे। परमार, प्रतिहार, चाहमान, और चावड़ा जैसे क्षात्रधर्मी गुर्जरों में से भी सैंकड़ों कुटुम्ब जैन बनने लगे। जैनाचार्यों ने उनको एक नवीन जैन जाति के समूह रूप में संगठित किया और श्रीमाल नगर उस नये जैन समाज का मुख्य उत्पत्ति स्थान होने से उस जाति का श्रीमाल वंश ऐसा नया नाम स्थापित किया। वही श्रीमाल वंश बाद में वटवृक्ष के समान असंख्य शाखा प्रशाखा द्वारा समस्त देश में व्याप्त हुआ। उस वंश की एक महती शाखा पोरवाड़ वंश के नाम से प्रसिद्ध हुई जिस में विमलशाह और वस्तुपाल-तेजपाल जैसे पुरुष रत्न उत्पन्न हुए। गुजरात के वणिकों का अधिकांश उसी श्रीमाल वंश की संतान है।

भिल्लमाल की राजलक्ष्मी के अस्तंगमन के बाद अणहिल पुर का भाग्योदय हुआ। और गुर्जरों के ही एक राजवंश में जात वनराज चावडा के छत्र के नीचे उस प्राचीन गुर्जर देश की धन-जनात्मक समग्र संपत्ति अणहिल पुर की सीमा में आकर व्यवस्थित हुई। श्रीमाल के नाम की स्मृति निमित्त उन्होंने सरस्वती के तीर पर श्रीस्थल की नवीन स्थापना की। कुछ ही दशकों में वह श्रीस्थल और अणहिल पुर के आसपास का समस्त प्रदेश भिल्लमाल के प्राचीन प्रदेश की तरह गुर्जर देश इस नवीन नाम से भारतविश्रुत हुआ। शीलगुण सूरि नामक एक जैनाचार्य का वरप्रद हस्त बाल्यावस्था में ही वनराज के मस्तक पर प्रतिष्ठित हुआ और उनके मंगलकारी आशीर्वाद से उसका वंश और उसका पाट नगर अभ्युदय को प्राप्त हुए। अणहिल पुर की स्थापना के दिन से ही जैनाचार्यों ने उस भूमि के सुख, सौभाग्य, सामर्थ्य और समृद्धि की मंगल कामना की थी। उनकी यह कामना उत्तरोत्तर सफल हुई और अणहिल पुर के सौराज्य के साथ गुर्जर प्रजा का और तद्द्वारा जैन धर्म का भी उत्कर्ष हुआ।

गुजरात और उसकी संस्कार विषयक देन के विषय में इस प्रकार मैंने अपने कुछ दिग्दर्शनात्मक विचार आपके समक्ष रखे हैं। ये विचार सिर्फ दिग्दर्शन कराने के लिये ही हैं। इन विचारों का सप्रमाण और सविस्तार वर्णन करने के लिये तो ऐसे अनेक व्याख्यान देने होगें। वडौदा के इस विशाल न्यायमंदिर में आज जो मुझे इस प्रकार अपने जैन धर्म विषयक विचार प्रकट करने का मानप्रद और आनन्ददायक आमन्त्रण दिया गया है एतदर्थ मैं श्रीमन्त सरकार सर सयाजी राव महाराज के सुयोग्य मंत्री मंडल के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। तथा आप सभी श्रोताजनों ने मेरे इन विचारों को सुनने के लिए जो रस और उत्साह का प्रदर्शन किया है एतदर्थ मैं आपका भी हृदय से आभार मान कर अपना यह वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।